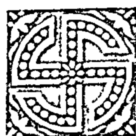
नमस्कार महामंत्र

णमो अरिहंताणं
णमो सिद्धाणं
णमो आयरियाणं
णमो उवज्झायाणं
णमो लोए सव्वसाहूणं

एसो पंच णमोक्कारो, सव्व-पावप्पणासणो ।
मंगलाणं च सव्वेसिं, पढमं हवइ मंगलं ॥



// श्री महावीराय नमः //

// जय नानेश //

// जय रामेश //

जैन संस्कार पाठ्यक्रम
भाग - 7

सकलनकर्ता

मदनलाल कटारिया

प्रकाशक

श्री अखिल भारतवर्षीय साधुमार्गी जैन संघ

बीकानेर

जैन संस्कार पाठ्यक्रम भाग - 7

संस्करण - प्रथम 2004 / 2100 द्वितीय 2007 / 2100 तृतीय 2008 / 2100

मूल्य - रुपए 5/-

अर्थ सौजन्य : *दानवीर, संघनिष्ठ श्रेष्ठीवर्य श्री सोहनलालजी विमलचन्दजी सिपाणी, बैंगलोर*

पुस्तक एवं परीक्षा फार्म प्राप्ति स्थल

श्री अखिल भारतवर्षीय साधुमार्गी जैन संघ,
समता भवन, रामपुरिया मार्ग, बीकानेर (राज.) फोन-0151-2544867

श्री गणेश जैन ज्ञान भण्डार
समता भवन, नौलाईपुरा, रतलाम-457001 (म.प्र.) फोन-07412-244443

Sampat Nursing Home
4, Nachiappa Street, Mylapore, CHENNAI-600004 ☎ 4980572, 498002, 4980578

श्री विमलचंदजी सोहनलालजी सिपाणी
831, 13th मेन II ब्लॉक, कोरमंगला, बैंगलोर
☎ 25537878 (नि.), 25537833 (ऑ.)

श्री जवाहर मित्र मण्डल
उन बजार, ब्यावर जिला अजमेर (राज.)

श्री सायरचन्दजी छल्लाणी
पारसमनी, 4 वेस्ट प्रतापनगर, मेन पटेल नगर, न्यू देहली
☎ 0124 - 5052629, 011 - 25883344

श्री पृथ्वीराज जी पारख
पारख ट्रेडर्स, आपापुरी, कचहरी रोड पो. दुर्ग - 491001
फोन . (0788) 2324255 (नि.) 2324554 (ऑ)

प्रकाशक
श्री अखिल भारतवर्षीय साधुमार्गी जैन संघ
समता भवन, रामपुरिया मार्ग, बीकानेर - 334005 (राज.)
फोन · (0151) 2544867, 3292177

मुद्रक
छाजेड़ प्रिन्टरी प्रा. लि., 108, स्टेशन रोड, रतलाम (म. प्र.)
फोन (07412) 230557

भूमिका

श्री अखिल भारतवर्षीय साधुमार्गी जैन सघ द्वारा अनेक धार्मिक एव सामाजिक गतिविधियाँ चलाई जा रही है, जिनमे 'धार्मिक परीक्षा बोर्ड' भी एक है, सन् 1974 से ये परीक्षा निरन्तर चल रही है जिसके माध्यम से ज्ञानार्जन करने वालो के लिए पाठ्यक्रम निर्धारित कर परीक्षाएँ ली जाती रही है। विभिन्न प्रसगो पर परमागम रहस्यज्ञाता, व्यसनमुक्ति प्रणेता 1008 श्रद्धेय गुरुवर आचार्य श्री रामलालजी म सा से तत्त्व चर्चा का अवसर प्राप्त होता रहा है। तत्त्व चर्चा के दौरान बदलते परिवेश के अनुरूप नए पाठ्यक्रम की आवश्यकता अनुभूत हुई।

अतएव जैन सस्कार पाठ्यक्रम के नाम से नवीन पाठ्यक्रम निर्धारित किया गया है जिसमे भाग1 से 12 तक प्रस्तुत किए गए है, जो वर्ष 2003 से निरन्तर गतिमान है। इससे जैन धर्म के मूल सिद्धान्तो का ज्ञान प्राप्त होगा तथा विशेष ज्ञानार्जन प्राप्त कर जीवन मे कुछ पा सकेगे, ऐसा विश्वास है। पाठ्यक्रम को सुरुचिपूर्ण एव सुबोध बनाने के लिए साहित्य की विविध विधाओ से सम्पन्न बनाया गया है।

पाठ्यक्रम के सकलन मे प्रत्यक्ष एव परोक्ष रूप से जिनका भी मार्गदर्शन एव सहयोग मिला, उनके प्रति हृदय से आभार व्यक्त करते है।

सभी श्री सघो एव चातुर्मासिक क्षेत्रो के धर्मानुरागी भाई-बहिनो से अनुरोध है कि अधिक-से-अधिक इन परीक्षाओ मे भाग लेकर ज्ञान की श्रीवृद्धि मे योगदान प्रदान करे। इसी शुभेच्छा के साथ।

विनीत

श्री अखिल भारतवर्षीय साधुमार्गी जैन संघ

बीकानेर

परीक्षा के नियम

परीक्षा में भाग लेने वाले विद्यार्थियों को फार्म भरना आवश्यक है कम से कम दस परीक्षार्थी होने पर परीक्षा केन्द्र खोला जा सकेगा।

1. पाठ्यक्रम - भाग 1 से 12 तक

2 योग्यता - ज्ञानार्जन का अभिलाषी

3. परीक्षा का समय - माह आसोज, विदी पक्ष

4. श्रेणी निर्धारण

विशेष योग्यता	-	75% से 100%
प्रथम श्रेणी	-	60% से 74%
द्वितीय श्रेणी	-	46% से 59%
तृतीय श्रेणी	-	35% से 45%

5. परीक्षा फल - परीक्षा फल का प्रकाशन पत्रिका श्रमणोपासक में तथा परीक्षा केन्द्रों पर उपलब्ध रहेगा।

6. प्रमाण-पत्र - सम्बन्धित परीक्षा केन्द्रों पर प्रमाण-पत्र भिजवायें जाएंगे।

7. पारितोषिक - प्रत्येक परीक्षा में प्रथम, द्वितीय, तृतीय तथा प्रोत्साहन पुरस्कार।

8. पुस्तक एवं परीक्षा फार्म प्राप्ति स्थान -

1. **श्री अखिल भारत वर्षीय साधुमार्गी जैन संघ**
   समता भवन, रामपुरिया मार्ग,
   बीकानेर (राज.) 334005
   फोन · 0151-2544867, 3292177

2. **श्री गणेश जैन ज्ञान भण्डार**
   समता भवन, नौलाईपुरा,
   रतलाम (म.प्र.) 457001
   फोन . 07412-244443

अनुक्रम

अस्वाध्याय

निम्नलिखित बत्तीस अस्वाध्याय के कारणो को टालकर स्वाध्याय करना चाहिए।

क्र.	नाम	आकाश संबंधी 10 अस्वाध्याय	कालमर्यादा
1.	उल्कापात	'टूटता हुआ तारा, पीछे रेखा युक्त प्रकाश '	एक प्रहर
2	दिग्दाह	दिशा रक्तवर्ण की हो अर्थात् ऐसा मालूम पडे कि दिशा मे आग सी लगी है	जव तक रहे
3	गर्जित	अकाल मे मेघगर्जना हो तो	दो प्रहर
4	विद्युत	अकाल में बिजली चमके तो	एक प्रहर
5.	निर्घात	बिजली कडके तो	आठ प्रहर
6.	यूपक	शुक्ल पक्ष की 1-2-3 की रात	प्रहर रात्रि तक
7.	यक्षादीप्त	आकाश मे यक्ष का चिह्न	जवतक दिखाई दे
8-9	धूमिका-मिहिका-	काली और सफेद धूंअर	जव तक रहे
10.	रज उद्घात	आकाश मंडल धूली से आच्छादित	जव तक रहे

नक्षत्र 28 होते है, उनमे से आर्द्रानक्षत्र से स्वाति नक्षत्र तक 9. नक्षत्र वर्षा के गिने गए है। इनमे होने वाली मेघ गर्जना और बिजली का चमकना स्वाभाविक है। अत इसका अस्वाध्याय नहीं गिना गया है। **(स्थानाङ्ग सूत्र 10, उ. 1)**

औदारिक सम्बन्धी 10 अस्वाध्याय

11-13	हड्डी, रक्त मांस	ये तिर्यच के 60 हाथ के भीतर हो तो	3 प्रहर
		मनुष्य के 100 हाथ के भीतर हो तो	एक दिन रात
		मनुष्य की हड्डी 100 हाथ के भीतर यदि जली या धुली न हो तो	12 वर्ष तक

(आवश्यक निर्युक्ति पृ. 217)

14.	अशुचि	दुर्गंध आवे या दिखाई दे	तब तक
15	श्मशान भूमि	100 हाथ के भीतर हो तो	स्वाध्याय नहीं करें
16	चंद ग्रहण	खंड ग्रहण, पूर्णग्रहण हो तो क्रमश	8 प्रहर, 12 प्र.

17. सूर्य ग्रहण	खंड ग्रहण, पूर्ण ग्रहण हो तो क्रमश·	12 प्रहर, 16 प्र.
18. पतन	राजा या राज्याधिकारी के निधन होनेपर (नवीन राजा घोषित न हो)	तब तक
19. राजविग्रह	युद्ध स्थान के निकट	जब तक युद्ध चले
20. शव	पंचेन्द्रिय का शव पडा हो	जब तक रहे
21. चार महापुर्णिमा	1. आषाढी पूर्णिमा 2. अश्विनी पूर्णिमा	दिन-रात
	3. कार्तिकी पूर्णिमा 4. चैत्र की पूर्णिमा	दिन-रात
25-28 चार प्रतिपदा	इन पूर्णिमाओं के बाद की प्रतिपदा	दिन-रात
29-32 चार संधि समय	प्रातः, सायं, मध्याह्न और मध्य रात्रि 24 मिनिट पहले से 24 मिनिट बाद तक	1-1 मुहुर्त

(स्थानाङ्ग सूत्र 4)

विशेष नोट - 1. कुछ पुस्तकों में उक्त 32 के अतिरिक्त भाद्र मास की पूर्णिमा एवं प्रतिपदा ये दो दिन और मिलाकर 34 अस्वाध्याय माने गए हैं। परन्तु ये दोनो अस्वाध्याय परंपरा से माने गए है, इनका मौलिक प्रमाण कुछ भी नहीं है।

2. बालक-बालिका के जन्म का क्रमशः सात और आठ दिन का 100 हाथ के भीतर अस्वाध्याय माना जाता है।

3. गायादि के जर गिरती रहे तब तक, उसके गिरने के बाद तीन प्रहर तक।

4. कालिक सूत्र - 11 अंग, 4 छेद, तथा मूलसूत्र में एक उत्तराध्ययन सूत्र। उपांग सूत्र में जम्बूद्वीप प्रज्ञप्ति, चंद्रप्रज्ञप्ति, निरयावलिया पंचक (कप्पिया, कप्पवडसिया, पुप्फिया, पुप्फचूलिया, वण्हिदसा, शेष सभी **उत्कालिक** सूत्र है। किन्तु 32वां आवश्यक सूत्र **नोकालिक नोउत्कालिक** शास्त्र है।

कालिक सूत्र की स्वाध्याय दिन एवं रात्री के प्रथम एवं अन्तिम प्रहर मे एवं उत्कालिक सूत्र की स्वाध्याय किसी भी समय अस्वाध्याय के कारणों को टालकर करना चाहिए।

5. स्वाध्याय का वाचन करने के पश्चात 'आगमे तिविहे' का पाठ बोले॥

6.एक प्रहर लगभग 3 घंटे का होता है।

7. आर्द्रा नक्षत्र से स्वाति नक्षत्र का काल तारीख के हिसाब से 21 जून से 25 अक्टू. के लगभग होता है।

सूत्र विभाग

1. नमिप्रव्रज्या-एक परिचय

नमि राजर्षि के प्रत्येक बुद्ध होकर प्रव्रज्या ग्रहण करने की घटना इस प्रकार है- मालव देश के सुदर्शनपुर का राजा मणिरथ था। उसका छोटा भाई युवराज युगबाहु था। मदन रेखा युगबाहु की पत्नी थी। मदनरेखा के रूप मे आसक्त मणिरथ ने छल से अपने छोटे भाई की हत्या कर दी। गर्भवती मदनरेखा शील रक्षा हेतु वन में चली गई। वन मे एक पुत्र को जन्म दिया। उस शिशु को मिथिला नृप पद्म रथ मिथिला ले आया। उसका नाम रखा 'नमि'। यही नमि आगे चलकर पद्म रथ के मुनि वन जाने पर राजा बने। एक बार नमि राजा के शरीर मे दु:सह दाहज्वर उत्पन्न हुआ, घोर पीडा होने लगी। छह महीने तक उपचार चला लेकिन कोई लाभ नहीं हुआ। एक वैद्य ने चन्दन का लेप शरीर पर लगाने के लिए कहा। रानियॉ चन्दन घिसने लगी। चन्दन घिसते समय हाथो मे पहने हुए ककणो के परस्पर टकराने से आवाज हुई। वेदना से व्याकुल नमिराज कंकणो की आवाज सह नहीं सके। रानियो ने जाना तो सौभाग्य चिह्न स्वरूप एक-एक कंकण रखकर शेष सभी उतार दिए। अब आवाज बद हो गई अकेला ककण कैसे आवाज करेगा। राजा ने मंत्री से पूछा- "ककणो की आवाज क्यो नहीं सुनाई दे रही है?"

मत्री ने कहा- "स्वामिन ! आपको कंकणो के टकराने से होने वाली ध्वनि अप्रिय लग रही थी अत रानियो ने सिर्फ एक ककण हाथ मे रखकर शेष सभी उतार दिए है।" राजा को इस घटना से नया प्रकाश मिला। इस घटना से राजा प्रतिबुद्ध हो गया। सोचा जहॉ अनेक है वहॉ सघर्ष है दुख, पीडा और रागादि दोष है, जहॉ एक है वहीं, सच्चा सुख है। अत जब मै मोहवश स्त्रियो, खजानो, महलो तथा गज, अश्वादि से एवं राजकीय भोगो से संबद्ध हूँ, तब तक मै दुखित हूँ। इन सब को छोडकर एकाकी होने पर ही सुखी हो सकूँगा। इस प्रकार राजा के मन मे विवेकमूलक वैराग्य भाव जागा। उसने सर्व सग परित्याग करके एकाकी होकर प्रव्रजित होने का दृढ सकल्प किया। दीक्षा ग्रहण करने की इस भावना से नमि राजा को गाढ निद्रा आई। उनका दाह ज्वर शांत हो गया। रात्रि मे श्वेत गजारूढ होकर मेरु पर्वत पर चढने का विशिष्ट स्वप्न देखा, जिस पर ऊहापोह करते-करते

जाति स्मरण ज्ञान उत्पन्न हो गया। राजा ने जान लिया कि मै पूर्व भव मे शुद्ध संयम पालन के कारण उत्कृष्ट 16 सागरोपम वाले देवलोक मे उत्पन्न हुआ फिर इस जन्म मे राजा बना। अतः उन्होंने अपने पुत्र को राज्य सौंपा और सर्वोत्कृष्ट मुनिधर्म मे दीक्षित होने के लिए सब कुछ ज्यों का त्यों छोड़ कर नगर से बाहर चले गए।

अकस्मात् नमि राजा के यो राज्य त्याग कर प्रव्रजित होने के समाचार स्वर्ग के देवो ने जाने तो वे विचार करने लगे- यह त्याग क्षणिक आवेश है या वास्तविक वैराग्यपूर्ण है अत· उनकी प्रव्रज्या की परीक्षा लेने स्वयं देवेन्द्र देवराज शक्र ब्राह्मण का वेश बना कर नमिराजर्षि के पास आए और क्षात्रधर्म की याद दिलाते हुए लोक जीवन से संबंधित 10 प्रश्न उपस्थित किए, जिनका समाधान उन्होंने एकत्वभावना और आध्यात्मिक दृष्टि से कर दिया। इन्हीं प्रश्नों के उत्तर का वर्णन उत्तराध्ययन के 9वे अध्ययन मे किया गया है इस अध्ययन का नाम ''नमि प्रव्रज्या' है। इसका स्वाध्याय दिन एवं रात के प्रथम व अंतिम प्रहर में अस्वाध्याय को टाल कर करना चाहिए।



2. उत्तराध्ययन सूत्र नवम् अध्ययन

नमिपव्वज्जा

चइऊण देवलोगाओ, उववण्णो माणुसम्मि लोगम्मि।
उवसंत मोहणिज्जो, सरइ पोराणियं जाइं ॥1॥

- **उवसंत मोहणिज्जो**- जिसके दर्शन-मोहनीय कर्म का उपशम हो गया है, ऐसा नमिराज का जीव, **देवलोगाओ**-सातवे देवलोक से, **चइऊण**-चव कर, **माणुसम्मि लोगम्मि**-मनुष्य लोक मे, **उववण्णो**- उत्पन्न हुआ और जाति स्मरण ज्ञान द्वारा, **पोराणियं**- पहले के, **जाइं**-जन्म का, **सरइ**- स्मरण करने लगा ॥1॥

जाइं सरित्तु भयवं, सहसंबुद्धो अणुत्तरे धम्मे।
पुत्तं ठवेत्तु रज्जे, अभिणिक्खमई णमी राया ॥2॥

- **जाइं**-पूर्वभव का, **सरित्तु**- स्मरण कर के, **भयवं**- भगवान्, **णमीराया**- नमिराज, **सहसंबुद्धो**- स्वमेव बोध को प्राप्त हुए और, **पुत्तं**- पुत्र को, **रज्जे**- राज्यगद्दी पर, **ठवित्तु**-स्थापित कर के, **अणुत्तरे**-सर्वश्रेष्ठ, **धम्मे**-श्रुत-चारित्र रूप धर्म के सम्मुख होकर, **अभिणिक्खमई**- गृहस्थावस्था से निकले ॥2॥

सो देवलोगसरिसे, अंतेउरवरगओ वरे भोए।
भुंजित्तु णमी राया, बुद्धो भोगे परिच्चयई ॥3॥

- **अंतेउरवरगओ**- उत्तम अन्त पुर मे रह कर, **देवलोग-सरिसे**-देवलोक सरीखे, **वरे**-श्रेष्ठ, **भोए**- भोगो को, **भुंजित्तु**- भोग कर **सो**- उन, **णमी राया**- नमिराज ने, **बुद्धो**- बोध(तत्त्व ज्ञान) पाकर, **भोगे**- भोगो को, **परिच्चयइ**-छोड दिया ॥3॥

मिहिलं सपुरजणवयं, बलमोरोहं च परियणं सव्वं।
चिच्चा अभिणिक्खंतो, एगंतमहिट्ठिओ भयवं ॥4॥

- **सपुरजणवयं**- नगरो और जनपदो एव प्रातो मे जुडी हुई, **मिहिलं**-मिथिला नगरी, **बलं**- चतुरंगिणी सेना, **ओरोहं**- अन्त पुर **य**- और, **परियणं**- परिजन-दास-दासी आदि, **सव्वं**-सभी को, **चिच्चा**-छोड कर, **भयवं**- भगवान् नमिराज ने,

अभिणिक्खंतो-प्रव्रज्या धारण की और एगंत-एकान्त का, **अहिट्ठिओ**-आश्रय लिया अर्थात् द्रव्य से उद्यान रूप एकान्त का और भाव से सम्यग्ज्ञान-दर्शन-चारित्र रूप मोक्ष का आश्रय लिया ।।4।।

कोलाहलगभूयं आसी, मिहिलाए पव्वयंतम्मि।

तइया रायरिसिम्मि,णमिम्मि अभिणिक्खमंतम्मि ।।5।।

- **तइया**- उस समय, **रायरिसिम्मि**- राजर्षि, **णमिम्मि**-नमिराज के, **अभिणिक्खमंतम्मि**- गृहस्थावस्था से निकलने और, **पव्वयंतम्मि**-प्रव्रज्या धारण करने पर, **मिहिलाए**- मिथिला नगरी में, **कोलाहलगभूयं**- चारों ओर कोलाहल, **आसी**-होने लगा ।।5।।

भावार्थ- शास्त्रकारों ने नमिराज को गृहस्थावस्था में भी राजर्षि कहा है। इसका कारण यह है कि जो राजा न्यायी होता है और क्रोधादि छह अन्तरंग शत्रुओं को जीत लेता है, वह राजर्षि कहलाता है।

अब्भुट्ठियं रायरिसिं, पव्वज्जा ठाणमुत्तमं।

सक्को माहणरूवेणं, इमं वयणमब्बवी ।।6।।

- **उत्तमं**- उत्तम, **पव्वज्जाठाणं**- सम्यग्दर्शनादि गुणों के आधार रूप प्रव्रज्या-स्थान में, **अब्भुट्ठियं**- अभ्युद्यत (स्थिति) रायरिसिं- राजर्षि नमिराज से, **माहण रूवेण**-ब्राह्मण का रूप धारण कर के, **सक्को**-शकेन्द्र ने, **इमं** - इस प्रकार, **वयणं**- वचन, **अब्बवी**- कहा (प्रश्न किया) ।।6।।

किण्णु भो! अज्ज मिहिलाए, कोलाहलग-संकुला।

सुव्वंति दारुणा सद्दा, पासाएसु गिहेसु य ।।7।।

- **भो** - हे नमिराजर्षि ! **अज्ज**-आज, **मिहिलाए**- मिथिला नगरी के, **पासाएसु**-प्रासादो (राजमहलों) में, **य**- और, **गिहेसु**- घरों मे, **कोलाहलगसंकुला**-कोलाहल से व्याप्त, **दारुणा**- हृदय को विदीर्ण करने वाले भयंकर विलाप आक्रन्दन आदि, **सद्दा**-शब्द, **किण्णु**-क्यों, **सुव्वंति**- सुनाई देते हैं? ।।7।।

एयमट्ठं णिसामित्ता, हेउकारणचोइओ।

तओ णमी रायरिसी, देविंदं इणमब्बवी ।।8।।

- **तओ**- शक्रेन्द्र का. **एयं**- पूर्वोक्त. **अट्ठं**-अर्थ- प्रश्न. **णिसामित्ता**- सुनकर. **हेउ कारण चोइओ**- हेतु और कारण से प्रेरित हुए. **णमी रायरिसी**- नमी राजर्षि. **देविंदं**- देवेन्द्र से, **इणं**- इस प्रकार. **अब्बवी**- कहने लगे ॥8॥

मिहिलाए चेइए वच्छे सीयच्छाए मणोरमे ।
पत्त-पुप्फ फलोवेए, बहूणं बहू गुणे सया ॥9॥

- **मिहिलाए**- मिथिला नगरी के. **चेइए**- उद्यान मे. **पत्तपुप्फफलोवेए**-पत्र - पुष्प और फलो से युक्त, **सीयच्छाए**- शीतल छाया वाला. **सया**- सदा. **बहूणं**-बहुत से पक्षी आदि प्राणियो को, **बहुगुणे**- बहुत ही लाभ पहुँचाने वाला. **चणोरमे**- चित्त को प्रसन्न करने वाला मनोरम नामक एक, **वच्छे**- वृक्ष था ॥9॥

वाएण हीरमाणम्मि, चेइयम्मि मणोरमे ।
दुहिया असरणा अत्ता, एए कंदंति भो ! खगा ॥10॥

- **भो**- हे विप्र ! **मणोरमे**- वह मनोरम नाम वाला, **चेइए**-वृक्ष, **वाएण**- जब वायु से, **हीरमाणम्मि**- उखड गया, तब उस पर निवास करने वाले, **एए**- ये, **खगा**- पक्षी, **दुहिया**-दुखी, **असरणा**-अशरण और, **अत्ता**-पिडित होकर, **कंदंति**-आकन्दन कर रहे है ॥10॥

भावार्थ- जिस प्रकार वृक्ष के गिर जाने पर, पक्षी अपने स्वार्थ का नाश हो जाने के कारण उस वृक्ष के लिये रोते चिल्लाते है, परन्तु वृक्ष को उनके रोने मे कारण नहीं बनाया जा सकता, और न उसे इसके लिए दोषी ही ठहराया जा सकता है, इसी प्रकार मेरे दीक्षा लेने पर मिथिला के लोग अपने स्वार्थ के नष्ट हो जाने के कारण विलाप करते है। वास्तव मे इनका विलाप अपने स्वार्थ के लिए है, मेरे लिए नहीं। अतएव इन कोलाहल पूर्ण शब्दो के लिये मुझे उत्तरदायी नहीं ठहराया जा सकता।

एयमट्ठं णिसामित्ता, हेउकारण चोइओ ।
तओ णमि रायरिसिं, देविंदो इणमब्बवी ॥11॥

- **तओ**-नमि राजर्षि के उत्तर देने के बाद, **एयं**-पूर्वोक्त **अट्ठं**-अर्थ, **णिसामित्ता**-सुन कर, **हेउकारण चोइओ**- हेतु और कारण से प्रेरित हुए, **देविंदो**-देवेन्द्र ने, **णमिं रायरिसिं**-नमि राजर्षि से , **इणं**- यह, **अब्बवी**-कहा ॥11॥

एस अग्गी य वाऊ य, एयं डज्झइ मंदिरं।
भयवं अंतेउरं तेणं, कीस णं णावपेक्खह ॥12॥

- **वाऊ**- वायु से प्रेरित हुई, **एस**- यह, **अग्गि**- अग्नि, **एयं**- आपके इस, **मंदिरं**- भवन को, **डज्झइ**-जला रही है, **तेणं**- अत , **भयवं**- हे भगवन् ! आप अपने, **अंतेउरं**- अन्त·पुर की ओर, **कीसणं**-क्यों, **णावपेक्खह**- नहीं देखते है?

एयमट्ठं णिसामित्ता, हेउकारणचोइओ।
तओ णमी रायरिसी, देविंदं इणमब्बवी ॥13॥

- इस गाथा का शब्दार्थ आठवीं गाथा के समान है। नमि राजर्षि इंद्र के प्रश्न का उत्तर देते हैं ॥13॥

सुहं वसामो जीवामो, जेसिं मो णत्थि किंचणं।
मिहिलाए डज्झमाणीए, ण मे डज्झइ किंचणं ॥14॥

- हे ब्राह्मण ! **जेसिं**- इनमें, **मो**- हमारी, **किंचणं**- कोई वस्तु, **णत्थि**-नही है इसलिए, **सुहं वसामो**- मै सुखपूर्वक रहता हूँ और, **जीवामो**- सुखपूर्वक ही जीता हूँ। **मिहिलाए**- मिथिला नगरी के, **डज्झमाणीए**- जल जाने पर **मे**-मेरा, **किंचणं**- कुछ भी, **ण डज्झइ**- नहीं जलता है।14।

भावार्थ- आत्मा अकेली है। अकेली ही जन्म धारण करती है और अकेली ही मरती है। वस्तुतः अन्त.पुर आदि कुछ भी मेरा नहीं है और न मेरा इनमे ममत्व ही रहा हुआ है। इसलिए मिथिला नगरी के जलने पर मेरा कुछ भी नही जलता।

नमि राजर्षि की सांसारिक पदार्थो में निर्ममत्व भाव की परीक्षा करने के लिए इंद्र ने यह प्रश्न किया है, जिसका उपरोक्त उत्तर देकर नमि राजर्षि ने यह स्पष्ट कहा हे कि इन सांसारिक पदार्थो मे मेरा किञ्चित्मात्र भी मोह और ममत्व नहीं है।

चत्तपुत्तकलत्तस्स, णिव्वावारस्स भिक्खुणो।
पियं ण विज्जइ किंचि, अप्पियं पि ण विज्जइ ॥15॥

- **चत्तपुत्तकलत्तस्स**-पुत्र और स्त्रियों का त्याग करने वाले, **णिव्वावारस्स**- कृषि पशु पालन आदि सभी प्रकार के व्यापार से निवृत्त, **भिक्खुण्णो**- साधु के लिये,

ण-न तो, **किंचि**- कोई वस्तु, **पियं**- प्रिय, **विज्जइ**-है और, **ण**-न, **अप्पियं वि**-अप्रिय ही, **विज्जइ**- है अर्थात् भिक्षु का सभी वस्तुओ मे समभाव रहता है।15॥

बहुं खु मुणिणो भद्दं, अणगारस्स भिक्खुणो।
सव्वओ विप्पमुक्कस्स, एगंतमणुपस्सओ ॥16॥

- **सव्वओ**- सभी प्रकार के वाह्य और आभ्यन्तर बन्धनों से, **विप्पमुक्कस्स**-मुक्त, होकर, **एगंतं**- 'मै अकेला हूं, मेरा कोई भी नहीं है' इस प्रकार एकत्व-भावना का, **अणुपस्सओ**- विचार करने वाले तथा, **भिक्खुणो**- भिक्षा से निर्वाह करने वाले, **अणगारस्स**- गृहत्यागी, **मुणिणो**- साधु के लिए, **खु**-निश्चय ही, **बहुं**- बहुत, **भद्दं**-कल्याण (सुख) है ॥16॥

एयमट्ठं णिसामित्ता, हेउकारणचोइओ।
तओ णमिं रायरिसिं, देविंदो इणमब्ववी ॥17॥

- शब्दार्थ ग्यारहवीं गाथा के समान है। इन्द्र, नमि-राजर्षि से कहते हैं -

पागारं कारइत्ताणं, गोपुरट्टालगाणि य।
उस्सूलग-सयग्घीओ, तओ गच्छसि खत्तिया ॥18॥

- **खत्तिया** - हे क्षत्रिय ! **पागारं**- प्राकार (कोट) **य**- और, **गोपुरट्टालगाणि**-दरवाजे तथा अट्टालिका अर्थात् कोट पर युद्ध करने के लिये बुर्ज, **उस्सूलग**- कोट के चारो और खाई और, **सयग्घीओ**- सैंकडो शत्रुओ का हनन करने वाली तोप आदि यत्र. **कारइत्ताणं**- करवा कर, **तओ**- उसके वाद, **गच्छसि**-तुम दीक्षित होना ॥18॥

एयमट्ठं णिसामित्ता, हेउकारण चोइओ।
तओ णमी रायरिसी, देविदं इणमब्ववी ॥19॥

- शब्दार्थ आठवी गाथा के समान है। नमिराजर्षि. इन्द्र से कहते है -

सद्धं णगरं किच्चा, तव-संवर-मग्गलं।
खंति णिउणपागारं, तिगुत्तं दुप्पधंसयं ॥20॥

- **सद्धं**- श्रद्धा रूप, **णगरं**- नगर, **खंति**-क्षमा आदि दस धर्म रूप, **णिउणपागारं**-दृढ कोट और, **तवसंवर**-तप संवर रूप, **अग्गलं**-अर्गला (भोगल) **किच्चा**-बना कर,

दुप्पधंसयं-कर्म रूप शत्रुओं से दुर्जेय, **तिगुत्तं**- तीन गुप्तियों से उस कोट की रक्षा करनी चाहिए ॥20॥

भावार्थ- नमि राजर्षि कहते हैं कि हे विप्र ! मैंने श्रद्धा रूप नगर बनाया है। प्रशम, संवेग, निर्वेद, अनुकम्पा, आस्था ये पॉच उस नगर के द्वार है। क्षमा, मार्दव आर्जव आदि दस धर्म रूपी दृढ़ कोट बनाये है। अनशन आदि छ· प्रकार का बाह्य तप तथा आश्रवनिरोध रूप संवर को उसके लिए आगल सहित किवाड बनाये है। मनगुप्ति, वचनगुप्ति और कायगुप्ति रूप बुर्ज खाई और तोपे तैयार की हैं। इस प्रकार मेरा नगर दुर्जेय है। कर्मरूपी शत्रु मेरे नगर में प्रवेश नहीं कर सकते।

धणुं परक्कमं किच्चा, जीवं च ईरियं सया।
धिइं च केयणं किच्चा, सच्चेण पलिमंथए॥21॥

- उक्त नगर की रक्षा के लिये साधु को, **सया**-सदा, **परक्कमं**-पराक्रम रूपी, **धणुं**-धनुष, **य**-और, **ईरियं**- ईर्यासमिति को, **जीवं**- धनुष की डोरी, **किच्चा**-बना कर, **य**-और, **धिइं**- धीरज को, **केयणं**- केतन अर्थात् धनुष के मध्य में पकडने की काष्ठ की मुठिया, **किच्चा**-करके सत्य द्वारा उसे, **पलिमंथए**- बॉधना चाहिए॥21॥

- तवणारायजुत्तेणं, भित्तूणं कम्मकंचुयं।
मुणी विगयसंगामो, भवाओ परिमुच्चए॥22॥

- उक्त पराक्रम रूप धनुष में, **तव णाराय जुत्तेणं**- तप रूप बाण चढा कर और, **कम्म कंचुयं**-कर्म रूप कवच का, **भित्तूणं**- भेदन करके, **मुणी**- मुनि, **विगयसंगामो**-संग्राम से निवृत्त होकर, **भवाओ**- संसार से, **परिमुच्चए**- मुक्त हो जाता है॥22॥

भावार्थ- नमि राजर्षि कहते है कि हे ब्राह्मण ! कर्मरूपी शत्रुओं का नाश करने के लिए मैने पराक्रम रूपी धनुष पर छह प्रकार का आभ्यन्तर तप रूपी बाण चढा रखा है। कर्मशत्रुओ का नाश करने पर फिर कोई युद्ध करना शेष नहीं रहता। फिर शीघ्र ही मोक्ष की प्राप्ति हो जाती है, इसलिए हे ब्राह्मण ! जो तुमने कोट-किले आदि बनाने का कहा है, वे सब मैने पहले ही बना रखे है। इस प्रकार के कोट-किलों से शारीरिक और मानसिक समस्त दुखों से शीघ्र मुक्ति हो सकती है किन्तु तुम्हारे कथनानुसार कोट-किले आदि बनवाने से मुक्ति नहीं हो सकती।

एयमट्ठं णिसामित्ता, हेउ कारण चोइओ।
तओ णमिं रायरिसिं, देविंदो इण मब्बवी ॥23॥

- शब्दार्थ ग्यारहवीं गाथा के समान है। इन्द्र नमि, राजर्षि से कहते है :-

पासाए कारइत्ताणं, वद्धमाणगिहाणि य।
वालग्गपोइयाओ य, तओ गच्छसि खत्तिया ॥24॥

- **खत्तिया** - हे क्षत्रिय!, **पासाए**- प्रासाद (भवन) **य**- और **वद्धमाणगिहाणि**- अनेक प्रकार के छोटे बडे घर, **य**-और, **वालग्गपोइयाओ**-जल-क्रीडा करने के लिए तालाब के बीच मे क्रीडागृह आदि, **कारइत्ताणं**-बनवा कर, **तओ**- उसके बाद, **गच्छसि**- प्रव्रज्या धारण करना तुम्हे योग्य है ॥24॥

एयमट्ठं णिसामित्ता, हेउकारणचोइओ।
तओ णमिं रायरिसिं देविंदं इणमब्बवी ॥25॥

शब्दार्थ आठवीं गाथा के समान है। नमिराजर्षि, इंद्र को उत्तर देते है -

संसयं खलु सो कुणइ, जो मग्गे कुणइ घरं।
जत्थेव गंतुमिच्छेज्जा, तत्थ कुव्विज्ज सासयं ॥26॥

- **जो** - जो पुरुष, **संसयं**- सशय, **कुणई**-करता है कि 'मै गन्तव्य स्थान तक पहुचूँगा या नहीं', **सो खलु** - वही पुरुष, **मग्गे**- मार्ग मे, **घरं**- घर, **कुणइ**- बनाता है. किन्तु मेरे मन मे सन्देह नहीं है, क्योकि सम्यग् ज्ञान-दर्शन-चारित्र, रूप रत्न-त्रय से अवश्य मोक्ष होता है, ऐसा मुझे निश्चय है और मै इसका पालन कर रहा हू। मेरा निश्चित स्थान मोक्ष है। बुद्धिमान पुरुष को चाहिए कि, **जत्थेव**-जहॉ पर, **गंतु**- जाने की, **इच्छेज्ज**- इच्छा हो, **तत्थ**- वही पर, **सासयं**- अपना स्थायी घर, **कुव्विज्ज**-बनावे ॥26॥

भावार्थ- नमिराज ब्राह्मण से कहते है कि आपने मुझे विविध प्रासाद आदि बनाने के लिये कहा। किन्तु मेरा यहॉ रहना तो मार्ग के पडाव के समान है। मेरा गन्तव्य शाश्वत स्थान तो मुक्ति है। रास्ते मे पडाव के स्थान पर घर बनाना बुद्धिमत्ता नहीं है। बुद्धिमान को तो अपने इष्ट स्थान पर पहुँच कर घर बनाना चाहिए, जहॉ उसे सदा रहना है।

एयमट्ठं णिसामित्ता, हेउकारणचोइओ।
तओ णमि रायरिसि, देविदो इणमब्बवी ॥27॥

- शब्दार्थ ग्यारहवीं गाथा के समान है। इंद्र, नमिराजर्षि से कहते है :-

आमोसे लोमहारे य, गंठिभेए य तक्करे।
णगरस्स खेमं काऊणं, तओ गच्छसि खत्तिया ॥28॥

- **आमोसे**- डाका डालने वाले, **य**-और, **लोमहारे**- निर्दयता पूर्वक लोगों को मार कर उनका सर्वस्व लूटने वाले, **गंठिभेए**-गाँठ कतरने वाले, **य**-और, **तक्करे**-चोर (गुप्त रूप से धन हरण करने वाले) इनको दण्ड द्वारा वश में करके और इनसे, **णगरस्स**-नगर की, **खेमं**-सुरक्षा, **काऊण**- करके, **खत्तिया**- हे क्षत्रिय ! **तओ**- इसके वाद, **गच्छसि**-तुम दीक्षा लेना ॥28॥

एयमट्ठं णिसामित्ता, हेउकारणचोइओ।
तओ णमी रायरिसी, देविंदं इणमब्बवी ॥29॥

- शब्दार्थ आठवीं गाथा के समान है। नमिराजर्षि, इंद्र से कहते है:-

असइं तु मणुस्सेहिं, मिच्छादंडो पउंजइ।
अकारिणोऽत्थ बज्झंति, मुच्चई कारओ जणो ॥30॥

- **अत्थ**-इस लोक में, **मणुस्सेहिं**-मनुष्यों से, **असइं**- अनेक बार, **मिच्छादंडो**-मिथ्या दंड का, **पउंजइ**-प्रयोग किया जाता है अर्थात् अज्ञानादि वश लोग निरापराधी को दण्ड देते हुए दिखाई देते है, **अकारिणो**- अपराध न करने वाले निर्दोष व्यक्ति, **बज्झंति**- बाँधे जाते हैं, **तु**-और, **कारओ**- अपराध करने वाला, **जणो**- पुरुष, **मुच्चई**-छोड दिया जाता है ॥30॥

एयमट्ठं णिसामित्ता, हेउकारणचोइओ।
तओ णमिं रायरिसिं, देविंदो इणमब्बवी ॥31॥

- शब्दार्थ ग्यारहवीं गाथा के समान है। इद्र नमिराजर्षि से कहता है-

जे केइ पत्थिवा तुज्झं, णाणमंति णराहिवा।
वसे ते ठावइत्ता णं, तओ गच्छसि खत्तिया ॥32॥

- **णराहिवा**- हे नरेन्द्र ! **जे** - जो, **केई**- कोई, **पत्थिवा**- राजा तुम्हारी अधीनता स्वीकार कर, **तुज्झं**- तुम्हें, **णाणमंति**- नमन नहीं करते, **ते**- उन्हे, **वसे**- वश मे,

एहए- प्राप्त होता है ॥35॥

पंचिंदियाणि कोहं, माणं मायं तहेव लोहं च।
दुज्जयं चेव अप्पाणं, सव्वमप्पे जिए जियं ॥36॥

- पंचिंदियाणि- पाँच इन्द्रियां, **कोहं**- क्रोध, **माणं**- मान, **मायं**- माया, **च** - और, **तहेव**-इसी प्रकार, **लोभं**-लोभ, **चेव**- तथा, **दुज्जयं**-दुर्जय, **अप्पाणं**- आत्मा, **सव्वं**- ये सब, **अप्पे**- अपनी आत्मा को, **जिए**- जीत लेने पर, **जियं**- स्वतः जीत लिए जाते हैं ॥36॥

एयमट्ठं णिसामित्ता, हेउकारणचोइओ।
तओ णमिं रायरिसिं, देविंदो इणमब्बवी ॥37॥

-शब्दार्थ ग्यारहवीं गाथा के समान है। इंद्र नमि राजर्षि से कहते है:-

जइत्ता विउले जण्णे, भोइत्ता समणमाहणे।
दच्चा भोच्चा य जिट्ठा य, तओ गच्छसि खत्तिया ॥38॥

- खत्तिया - हे क्षत्रिय ! **विउले**- बडे-बडे, **जण्णे**- महा यज्ञ, **जइत्ता**- करवा कर, **समण माहणे**- श्रमण और ब्राह्मणों को, **भोइत्ता**-भोजन करा कर, **दच्चा**-दान देकर, **य**- और, **भोच्चा**-भोग-भोग कर, **य**-तथा, **जिट्ठा**-स्वयं यज्ञ करके, **तओ**- उसके बाद, **गच्छसि**-दीक्षा धारण करना तुम्हें योग्य है ॥38॥

एयमट्ठं णिसामित्ता, हेउकारणचोइओ।
तओ णमी रायरिसी, देविंदं इणमब्बवी ॥39॥

- शब्दार्थ आठवीं गाथा के समान है। नमि राजर्षि इंद्र से कहते है:-

जो सहस्सं सहस्साणं, मासे मासे गवं दए।
तस्सा वि संजमो सेओ, अदिंतस्स वि किंचणं ॥40॥

- जो- जो पुरुष, **मासे मासे**- प्रति मास, **सहस्साणं- सहस्सं**-दस लाख, **गवं**- गायो का, **दए**- दान करता है, **तस्साvि**- उसकी अपेक्षा, **किंचणं**- कुछ, **वि**- भी, **अदिंतस्स**- दान नहीं करने वाले मुनि का, **संजमो**- संयम, **सेओ**- अधिक श्रेष्ठ है ॥40॥

एयमट्ठं णिसामित्ता, हेउकारण चोइओ।
तओ णमिं रायरिसिं, देविंदो इणमब्बवी ॥41॥

- ग्यारहवीं गाथा के समान शब्दार्थ है। इंद्र नमि राजर्षि से कहता है -

घोरासमं चइत्ताणं, अण्णं पत्थेसि आसमं।
इहेव पोसहरओ, भवाहि मणुयाहिवा ॥42॥

मणुयाहिवा- मनुष्यो के अधिपति हे राजन्! आप **घोरासमं**- घोर गृहस्थाश्रम का, **चइत्ताणं**- त्याग कर, **अण्णं**- अन्य सन्यास, **आसमं**- आश्रम की, **पत्थेसि**- इच्छा कर रहे है, यह आप जैसे वीर क्षत्रियो के योग्य नहीं है। **इहेव**- आप यहीं गृहस्थाश्रम मे रह कर ही, **पोसहरओ**- पौषध आदि व्रतो मे रत, **भवाहि**- रहो ॥42॥

भावार्थ- गृहस्थाश्रम छोड कर सन्यास लेने की अपेक्षा आपके लिए यह अधिक उपयुक्त होगा कि आप गृहस्थावास मे रह कर ही पौषध आदि धर्मानुष्ठानो का आचरण करे।

एयमट्ठं णिसामित्ता, हेउकारणचोइओ।
तओ णमी रायरिसी, देविंदं इणमब्बवी ॥43॥

- शब्दार्थ आठवीं गाथा के समान है। नमि राजर्षि इद्र से कहते है-

मासे मासे उ जो बालो, कुसग्गेणं तु भुंजए।
ण सो सुअक्खायधम्मस्स, कलं अग्घइ सोलसिं ॥44॥

- **जो**- जो, **बालो**-अज्ञानी पुरुष, **मासे-मासे** प्रति मास यानी एक-एक मास का अनशन कर पारणे के दिन, **कुसग्गेणं तु**- कुशाग्र परिमाण, **भुंजइ**- आहार करता है, **सो**- वह पुरुष, **सुअक्खायधम्मस्स**- तीर्थकर देव द्वारा प्ररूपित चारित्र धर्म की. **सोलसिं**- सोलहवीं **कलं**- कला के, **ण अग्घइ**- समान भी नहीं है ॥44॥

भावार्थ- जिसमे साधु धर्म स्वीकार करने की शक्ति न हो, उसीको गृहस्थाश्रम धर्म ग्रहण करने की आज्ञा है, परन्तु साधु धर्म के आगे गृहस्थाश्रम का त्याग अत्यन्त न्यून है।

एयमट्ठं णिसामित्ता, हेउकारणचोइओ।
तओ णमिं रायरिसिं, देविंदो इणमब्बवी ॥45॥

- ग्यारहवीं गाथा के समान शब्दार्थ है। इद्र नमिराजर्षि से कहते है-

हिरण्णं सुवण्णं मणिमुत्तं, कंसं दूसं च वाहणं।
कोसं च वड्ढावइत्ताणं, तओ गच्छसि खत्तिया ॥46॥

- **हिरण्णं**- स्वर्ण के आभूषण **सुवण्णं**- सोना, **मणिमुत्तं**- मणि और मोती, **कंसं**- काँसी के बरतन, **दूसं**- वस्त्र, **च**- और, **वाहणं**- हाथी-घोड़ा रथ आदि वाहन **च**-तथा **कोसं**- भण्डार इन्हें, **वड्ढावइत्ताणं**- बढ़ा कर, **खत्तिया**- हे क्षत्रिय ! **तओ**- उसके बाद, **गच्छसि**- तुम प्रव्रज्या धारण करना ॥46॥

एयमट्ठं णिसामित्ता, हेउकारणचोइओ ।
तओ णमी रायरिसी, देविंदं इणमब्बवी ॥47॥

- शब्दार्थ आठवीं गाथा के समान है। नमि राजर्षि इन्द्र से कहते है:-

सुवण्ण रुव्वस्स उ पव्वया भवे,
सिया हु केलाससमा असंखया।
णरस्स लुद्धस्स ण तेहिं किंचि,
इच्छा हु आगाससमा अणंतिया ॥48॥

- **सिया**- यदि, **केलाससमा**- कैलाश पर्वत के समान, **सुवण्णरुव्वस्स**- सोने चाँदी के, **असंखया**-असंख्य, **पव्वया**- पर्वत, **भवे**- हों, **उ**- फिर भी, **लुद्धस्स**- लोभी, **णरस्स**-मनुष्य को, **तेहिं**- उन पर्वतो से भी, **ण किंचि**- कुछ संतोष नहीं होता। **हु**- निश्चय ही, **इच्छा**- इच्छा, **आगाससमा**- आकाश के समान, **अणंतिया**- अनन्त है।

भावार्थ- धन परिमित है और इच्छा अनन्त है, इसलिए उसका पूर्ण होना असंभव है। केवल संतोष धारण करने से ही इच्छा की निवृत्ति हो सकती है ॥48॥

पुढवी साली जवा चेव, हिरण्णं पसुभिस्सह ।
पडिपुण्णं णालमेगस्स, इइ विज्जा तवं चरे ॥49॥

- **साली** -चॉवल, **जवा**- जौ, **चेव**-और, **हिरण्णं**- सोना तथा, **पसुभिस्सह**, पशुओं आदि से, **पडिपुण्णं**-परिपूर्ण, **पुढवी**- यह सारी पृथ्वी, **एगस्स**- यदि किसी एक व्यक्ति को दे दी जाय तो भी, **णालं**- उसकी इच्छा पूर्ण होना कठिन है, **इइ**- इस प्रकार, **विज्जा**- जान कर बुद्धिमान पुरुष- **तवे**- तप का, **चरे**- आचरण करे ॥49॥

एयमट्ठं णिसामित्ता, हेउकारणचोइओ ।
तओ णमिं रायरिसिं, देविंदो इणमब्बवी ॥50॥

- शब्दार्थ ग्यारहवीं गाथा के समान है। इन्द्र नमि राजर्षि से कहते है:-

अच्छेरगमब्भुदए, भोए चयसि पत्थिवा !
असंते कामे पत्थेसि, संकप्पेण विहम्मसि ॥51॥

- **पत्थिवा**- हे राजन् ! **अच्छेरगं**- आश्चर्य है कि आप, **अब्भुदए**- प्राप्त हुए इन अद्‌भुत **भोए**- भोगो को, **चयसि**- छोड रहे हैं और, **असंते**- अविद्यमान, **कामे**- दिव्य काम भोगो की, **पत्थेसि**- अभिलाषा कर रहे हैं। कहीं ऐसा न हो कि अदृष्ट भोगो के न मिलने से, **संकप्पेण**- संकल्प-विकल्पो के वशीभूत होकर, **विहम्मसि**- तुम्हें पश्चात्ताप करना पडे ॥51॥

एयमट्ठं णिसामित्ता, हेउकारणचोइओ।
तओ णमी रायरिसी, देविंदं इणमब्बवी ॥52॥

- शब्दार्थ आठवीं गाथा के समान है। नमि राजर्षि इद्र से कहते है -

सल्लं कामा विसं कामा, कामा आसीविसोवमा।
कामे भोए पत्थेमाणा, अकामा जंति दुग्गइं ॥53॥

- **कामा**- काम-भोग, **सल्लं**-शल्य रूप है। **कामा**-काम-भोग, **विसं**-विष रूप है। **कामा**- काम-भोग, **आसी-विसोवमा**- आशीविष सर्प के समान हे। **कामे**- काम-भोगो की, **पत्थेमाणा**- अभिलाषा करने वाले पुरुष, **अकामा**- काम-भोग का सेवन न करते हुए भी केवल सकल्प मात्र से ही, **दुग्गइं**-दुर्गति, **जंति**- प्राप्त करते हैं ॥53॥

भावार्थ- नमि राजर्षि कहते है कि हे ब्राह्मण ! जैसे शरीर मे लगा हुआ शल्य (बाण का अग्रभाग) दु ख देता है, इसी प्रकार ये काम-भोग दु खदायी हे। जैसे तालपुट विष खाने मे मीठा लगता है, किन्तु अन्त मे मृत्यु के मुख मे पहुँचा देता है, इसी प्रकार ये कामभोग, भोगते समय मनोहर प्रतीत होते है, किन्तु अन्त मे अनेक दु खो को उत्पन्न करते है। जैसे विषधर सर्प फण ऊंचा करके नाचते समय अच्छा मालूम होता है, परन्तु डस लेने पर प्राण सकट मे पड जाते है। इसी प्रकार काम भोग पहले तो मनोहर और सुखप्रद मालूम होते है. किन्तु सेवन करने के बाद अनेक भयंकर दु ख देते है। ऐसे काम-भोगो का सेवन करना तो दूर रहा. किन्तु इनकी इच्छा करने से ही मनुष्य नरक आदि दुर्गतियो को प्राप्त होता है इसलिए हे विप्र ! मैने उत्तम काम-भोग पाने की इच्छा से वर्तमान मे प्राप्त हुए भोगो का त्याग नहीं किया है. किन्तु वर्तमान और भावी [illegible]

निस्पृह होकर विषय- भोग का त्याग किया है। मुमुक्षु को किसी भोग-पदार्थ की अभिलाषा नहीं होती।

अहे वयइ कोहेणं, माणेणं अहमा गई।
माया गइपडिग्घाओ, लोहाओ दुहओ भयं ॥54॥

- **कोहेणं**- क्रोध करने से जीव, **अहे**- नरक गति मे, **वयइ** - जाता है, **माणेणं**- मान से, **अहमा**- नीच, **गई**- गति प्राप्त होती है। **माया**-माया से, **गइपडिग्घाओ**- शुभ गति का नाश होता है **और, लोहाओ**-लोभ से, **दुहओ**- इस लोक और परलोक, में **भयं**- भय प्राप्त होता है॥54॥

अवउज्झिऊण माहणरूवं, विउव्विऊण इंदत्तं।
वंदइ अभित्थुणंतो, इमाहिं महुराहिं वग्गूहिं॥55॥

- इस प्रकार दस प्रश्न करके अनेक उपायो से जब देवेन्द्र, नमि राजर्षि को अपने धर्म से लेश मात्र भी नहीं डिगा सका तब देवेन्द्र ने, **माहणरूवं**- ब्राह्मण का रूप, **अवउज्झिऊण**- त्याग दिया और, **विउव्विऊण**- विक्रिया द्वारा **इंदत्तं**- अपना इंद्र का रूप बना कर, **इमाहिं**- इन आगे कहे जाने वाले, **महुराहिं**- मधुर, **वग्गूहिं**- वचनो से, **अभित्थुणंतो**- नमिराज की स्तुति करता हुआ, **वंदइ**- वन्दना नमस्कार करने लगा॥55॥

अहो ते णिज्जिओ कोहो, अहो माणो पराइओ।
अहो ते णिरक्किया माया, अहो लोहो वसीकओ॥56॥

- हे नमिराज! **अहो**- आश्चर्य है कि, **ते**- आपने **कोहो**- क्रोध को, **णिज्जिओ**- जीत लिया है, **अहो**- आश्चर्य है कि आपने, **माणो**- मान को, **पराइओ**- पराजित कर दिया है, **अहो**- आश्चर्य है कि, **ते**- आपने, **माया**-माया को, **णिरक्किया**- दूर कर दिया है, **अहो**- आश्चर्य है कि, **ते**- आपने, **लोहो**- लोभ को, **वसीकओ**- वश कर लिया है॥56॥

भावार्थ- इन्द्र नमि राजर्षि से कहने लगा कि हे भगवन्! मुझे आश्चर्य होता है कि आपने प्रबल क्रोध को जीत लिया है, क्योंकि मैंने पहले आपको शत्रु राजाओं को वश में करने के लिए कहा था, किन्तु आपने शान्तिपूर्वक उत्तर दिया कि आत्मा को वश में करना ही सर्वोत्तम है, दूसरों को वश मे करने से कोई लाभ नहीं होता। अतएव मुझे निश्चय हो गया है कि आपने क्रोध-शत्रु को जीत लिया है। हे नमिराज! मुझे आश्चर्य होता है कि आपने मान (अहंकार) को भी जीत लिया है। मैंने आपसे कहा था कि आपके अन्तःपुर तथा महल आदि को अग्नि भस्म कर रही है, इसको शान्त करना आपका कर्तव्य है। इस

वात को सुन कर आपको यह अहंकार नहीं आया कि मेरे जीते जी मेरे अन्त पुर आदि को कौन जला सकता है। किन्तु आपने इसका शान्तिपूर्वक उत्तर दिया कि मेरा ज्ञान-दर्शन-चारित्र मेरे पास है। नगर मे मेरा कुछ भी नहीं है। आपके इस उत्तर को सुनकर मुझे निश्चय हो गया है कि आपमें अहंकार नहीं है। महात्मन्! मुझे आश्चर्य होता है कि आपने माया का भी तिरस्कार कर दिया है, क्योकि नगर की रक्षा के लिए कोट किला आदि वनाने के लिए मैने आपसे कहा था, किन्तु आपने कहा कि धर्म की ही रक्षा करनी चाहिए। इससे मुझे निश्चय हो गया कि आप माया-रहित है। हे महात्मन्! मुझे आश्चर्य होता है कि आपने लोभ का भी नाश कर दिया है, क्योकि मैने आपसे कहा था कि मणि, मोती, सोना, चॉदी आदि से कोष की वृद्धि करने के पश्चात् दीक्षा लेनी चाहिए। आपने उत्तर दिया कि तृष्णा आकाश के समान अनन्त है, इसका पूर्ण होना असभव है। एक संतोष ही तृष्णा को पूर्ण कर सकता है। इससे मुझे निश्चय हो गया कि आपने लोभ को भी जीत लिया है। उपरोक्त उत्तरो से मुझे दृढ विश्वास हो गया है कि आपने क्रोध, मान, माया और लोभ- इन चारो को जीत लिया है।

अहो ते अज्जवं साहु, अहो ते साहु मद्दवं।
अहो ते उत्तमा खंती, अहो ते मुत्ति उत्तमा ॥57॥

- **अहो**-अहो, **ते**- आपकी, **अज्जवं**-ऋजुता- सरल स्वभाव, **साहु**- श्रेष्ठ है। **अहो**- अहो **ते**- आपकी, **मद्दवं**- मृदुता-निरभिमानता, **साहु**-श्रेष्ठ है। **अहो**- अहो, **ते**- आपकी, **खंती**- क्षमा, **उत्तमा**-उत्तम है और, **अहो**- अहो, **ते** -आपकी, **मुत्ति**-निर्लोभता, **उत्तमा**- उत्तम है।

इहंसि उत्तमो भंते, पेच्चा होहिसि उत्तमो।
लोगुत्तमुत्तमं ठाणं, सिद्धिं गच्छसि णीरओ ॥58॥

- **भंते**- हे भगवन्! **इहं**- इस लोक मे **उत्तमो**- आप उत्तम, **सि**- है और, **पेच्चा**- पर लोक मे, **उत्तमो**- उत्तम, **होहिसि**- होगे। **णीरओ**-कर्मरज रहित होकर आप, **लोगुत्तमुत्तमं**-लोक मे उत्तमोत्तम (सर्वोत्तम) **सिद्धि**-सिद्धि, **ठाणं**- स्थान मे **गच्छसि**-जाएगे।

एवं अभित्थुणंतो, रायरिसिं उत्तमाए सद्धाए।
पयाहिणं करेंतो, पुणो पुणो वंदइ सक्को ॥59॥

एवं - इस प्रकार, **सक्को**- इन्द्र, **उत्तमाए**- उत्तम, **सद्धाए**- श्रद्धा और भक्तिपूर्वक,

रायरिसिं- नमि राजर्षि की, अभित्थुणंतो-स्तुति करता हुआ और, पयाहिणं- प्रदक्षिणा, करें तो- करता हुआ, पुणो-पुणो- बार-बार, वंदइ-उन्हें वन्दना नमस्कार करने लगा ॥59॥

तो वंदिऊण पाए, चक्कंकुस लक्खणे मुणिवरस्स।
आगासेणुप्पइओ, ललिय-चवल-कुंडल-तिरीडी ॥60॥

- तो- इसके बाद, ललिय चवल कुंडल तिरीडी- सुंदर और चपल कुंडल तथा मुकुट धारण करने वाला इंद्र, मुणिवरस्स- मुनिवर नमिराज के, चक्कंकुस लक्खणे- चक्र एवं अंकुश चिन्ह वाले, पाए- चरणों मे, वंदिऊण- वन्दना कर, आगासेण- आकाश मार्ग से, उप्पइओ- ऊपर देवलोक मे चला गया ॥60॥

णमी णमेइ अप्पाणं, सक्खं सक्केण चोइओ।
चइऊण गेहं वइदेही सामण्णे पज्जुवट्ठिओ ॥61॥

- गेहं- घरबार कुटुम्ब एवं राज्यादि को, चइऊण- छोड कर, सामण्णे पज्जुवट्ठिओ- श्रमण बने हुए, वइदेही-विदेह देश के अधिपति, णमी- नमिराजर्षि की, सक्खं- साक्षात्, सक्केण- इंद्र ने, चोइओ- परीक्षा की, किन्तु वे संयम से लेशमात्र भी विचलित नहीं हुए और साक्षात् इंद्र को अपने चरणो में वन्दना करते हुए देख कर भी उन्होंने गर्व नहीं किया, प्रत्युत, अप्पाणं- अपनी आत्मा को, णमेइ- विशेष नम्र बनाया ॥61॥

एवं करेंति संबुद्धा, पंडिया पवियक्खणा।
विणियट्टंति भोगेसु, जहा से णमी रायरिसी ॥62॥ त्तिबेमि ॥

- संबुद्धा-तत्त्व को जानने वाले, पवियक्खणा- विचक्षण, पंडिया- पडित पुरुष, एवं- नमिराजर्षि के समान, करेंति- संयम पालने में निश्चल रहते है और, भोगेसु- काम-भोगों से विणियट्टंति- निवृत्त होते हैं, जहा- जैसे से- वे, णमी रायरिसी- नमिराजर्षि भोग-विलास से निवृत्त हुए थे ॥62॥ त्ति बेमि- ऐसा मैं कहता हूँ।

॥ नौवाँ अध्ययन पूर्ण ॥

तत्व विभाग

1. संज्ञा पद

श्री प्रज्ञापना सूत्र के आठवे पद मे संज्ञा का वर्णन चलता है।

संज्ञा- आहारादि की संवेदना (अनुभव) विशेष को संज्ञा कहते है इसके दस भेद है - 1. आहार संज्ञा, 2. भय सज्ञा, 3. मैथुन संज्ञा, 4. परिग्रह संज्ञा, 5. क्रोध संज्ञा, 6. मान सज्ञा, 7. माया संज्ञा, 8. लोभ सज्ञा, 9. लोक संज्ञा और 10. ओघसंज्ञा।

समुच्चय जीव 24 दंडक में दस ही संज्ञा पाई जाती हैं। चार गति की अपेक्षा आहारादि चारों संज्ञाओं का अल्प बहुत्व इस प्रकार है:-

नरक मे सबसे थोडे मैथुन- संज्ञावाले, उनसे आहार- संज्ञावाले संख्यात गुण और उनसे परिग्रह-संज्ञावाले संख्यात गुण और उनसे भय- संज्ञावाले संख्यात गुण।

तिर्यच में सबसे थोडे परिग्रह संज्ञावाले, उनसे मैथुन- संज्ञावाले संख्यात गुण। उनसे भय-सज्ञावाले संख्यात गुण और उनसे आहार-संज्ञावाले भी संख्यात गुण।

मनुष्य मे सबसे थोडे भय-संज्ञावाले, उनसे आहार-सज्ञावाले सख्यात गुण। उनसे परिग्रह- संज्ञावाले संख्यात गुण और उनसे भी मैथुन- सज्ञावाले सख्यात गुण।

देव मे आहार-सज्ञावाले सबसे थोडे, उनसे भय-सजावाले सख्यात गुण, उनसे मैथुन-संज्ञावाले संख्यात गुण और उनसे भी परिग्रह- सज्ञावाले संख्यात गुण।

आहार- संज्ञा के चार कारण- 1. कोठा-पेट खाली होने से, 2. क्षुधावेदनीय के उदय से, 3. आहार सम्बन्धी बात सुनने से और आहार को देखने मे 4 आहार का चिन्तन करने से।

भय-संज्ञा के चार कारण- 1 धीरज के अभाव मे, 2 भय-मोहनीय कर्म के उदय से, 3 भय की बात सुनने से और 4 भय का चिन्तन करने से भय-सज्ञा उत्पन्न होती है।

मैथुन-संज्ञा के चार कारण- 1 रक्त मांस बढने से, 2. वेद-मोहनीय के उदय से, 3. मैथुन सम्बन्धी बाते सुनने से और देखने मे 4 भोग सम्बन्धी चिन्तन करने से।

परिग्रह - संज्ञा के चार कारण- 1 अति इच्छा-मूर्च्छा होने से, 2 लोभ-

रायरिसिं- नमि राजर्षि की, **अभित्थुणंतो**-स्तुति करता हुआ और, **पयाहिणं**-प्रदक्षिणा, **करें तो**- करता हुआ, **पुणो-पुणो**- बार-बार, **वंदइ**-उन्हें वन्दना नमस्कार करने लगा ॥59॥

तो वंदिऊण पाए, चक्कंकुस लक्खणे मुणिवरस्स।
आगासेणुप्पइओ, ललिय-चवल-कुंडल-तिरीडी ॥60॥

- **तो**- इसके बाद, **ललिय चवल कुंडल तिरीडी**- सुंदर और चपल कुंडल तथा मुकुट धारण करने वाला इंद्र, **मुणिवरस्स**- मुनिवर नमिराज के, **चक्कंकुस लक्खणे**-चक्र एवं अंकुश चिन्ह वाले, **पाए**- चरणों में, **वंदिऊण**- वन्दना कर, **आगासेण**-आकाश मार्ग से, **उप्पइओ**- ऊपर देवलोक में चला गया ॥60॥

णमी णमेइ अप्पाणं, सक्खं सक्केण चोइओ।
चइऊण गेहं वइदेही सामण्णे पज्जुवट्ठिओ ॥61॥

- **गेहं**- घरबार कुटुम्ब एवं राज्यादि को, **चइऊण**- छोड कर, **सामण्णे पज्जुवट्ठिओ**- श्रमण बने हुए, **वइदेही**-विदेह देश के अधिपति, **णमी**- नमिराजर्षि की, **सक्खं**- साक्षात्, **सक्केण**- इंद्र ने, **चोइओ**- परीक्षा की, किन्तु वे संयम से लेशमात्र भी विचलित नहीं हुए और साक्षात् इंद्र को अपने चरणों में वन्दना करते हुए देख कर भी उन्होंने गर्व नहीं किया, प्रत्युत, **अप्पाणं**- अपनी आत्मा को, **णमेइ**- विशेष नम्र बनाया ॥61॥

एवं करेंति संबुद्धा, पंडिया पवियक्खणा।
विणियट्टंति भोगेसु, जहा से णमी रायरिसी ॥62॥ त्तिबेमि ॥

- **संबुद्धा**-तत्त्व को जानने वाले, **पवियक्खणा**- विचक्षण, **पंडिया**- पंडित पुरुष, **एवं**- नमिराजर्षि के समान, **करेंति**- संयम पालने में निश्चल रहते है और, **भोगेसु**-काम-भोगो से **विणियट्टंति**- निवृत्त होते हैं, **जहा**- जैसे **से**- वे, **णमी रायरिसी**-नमिराजर्षि भोग-विलास से निवृत्त हुए थे ॥62॥ **त्ति बेमि**- ऐसा मै कहता हूँ।

॥ नौवाँ अध्ययन पूर्ण ॥

तत्व विभाग

1. संज्ञा पद

श्री प्रज्ञापना सूत्र के आठवे पद में संज्ञा का वर्णन चलता है।

संज्ञा- आहारादि की संवेदना (अनुभव) विशेष को संज्ञा कहते है इसके दस भेद है - 1. आहार संज्ञा. 2 भय संज्ञा. 3. मैथुन संज्ञा, 4. परिग्रह संज्ञा, 5 क्रोध सज्ञा, 6. मान संज्ञा, 7. माया संज्ञा, 8 लोभ सज्ञा, 9. लोक संज्ञा और 10. ओघसज्ञा।

समुच्चय जीव 24 दंडक मे दस ही संज्ञा पाई जाती हैं। चार गति की अपेक्षा आहारादि चारों संज्ञाओ का अल्प बहुत्व इस प्रकार है:-

नरक मे सबसे थोडे मैथुन- संज्ञावाले, उनसे आहार- सज्ञावाले संख्यात गुण और उनसे परिग्रह-सज्ञावाले सख्यात गुण और उनसे भय- संज्ञावाले संख्यात गुण।

तिर्यंच मे सबसे थोडे परिग्रह संज्ञावाले, उनसे मैथुन- संज्ञावाले संख्यात गुण। उनसे भय-सज्ञावाले संख्यात गुण और उनसे आहार-सज्ञावाले भी सख्यात गुण।

मनुष्य मे सबसे थोडे भय-संज्ञावाले, उनसे आहार-सज्ञावाले संख्यात गुण। उनसे परिग्रह- संज्ञावाले सख्यात गुण और उनसे भी मैथुन- संज्ञावाले संख्यात गुण।

देव मे आहार-संज्ञावाले सबसे थोडे, उनसे भय-संज्ञावाले संख्यात गुण, उनसे मैथुन-सज्ञावाले संख्यात गुण और उनसे भी परिग्रह- सज्ञावाले संख्यात गुण।

आहार- संज्ञा के चार कारण- 1. कोठा-पेट खाली होने से, 2. क्षुधावेदनीय के उदय से, 3. आहार सम्बन्धी बात सुनने से और आहार को देखने से 4. आहार का चिन्तन करने से।

भय-संज्ञा के चार कारण- 1. धीरज के अभाव मे, 2. भय-मोहनीय कर्म के उदय से, 3. भय की बात सुनने से और 4. भय का चिन्तन करने से भय-संज्ञा उत्पन्न होती है।

मैथुन-संज्ञा के चार कारण- 1. रक्त मांस बढने से, 2 वेद-मोहनीय के उदय से, 3. मैथुन सम्बन्धी बाते सुनने से और देखने से 4 भोग सम्बन्धी चिन्तन करने से।

परिग्रह - संज्ञा के चार कारण- 1 अति इच्छा-मूर्च्छा होने से, 2 लोभ-

मोहनीय कर्म के उदय से 3. परिग्रह संबंधी बातें सुनने से और 4. परिग्रह सम्बन्धी चिंतन करने से परिग्रह संज्ञा उत्पन्न होती है।

नारकी से आकर उत्पन्न होने वाले जीव में भय-संज्ञा, बहुत होती है। तिर्यच गति से आए हुए जीव में आहार-संज्ञा, अधिक होती है। मनुष्य गति से आये हुए जीव में मैथुन-संज्ञा बहुत होती है और देव गति से आए हुए जीव में परिग्रह संज्ञा अधिक होती है।

नरक से आए हुए जीव में **क्रोध** बहुत होता है। तिर्यच से आए हुए जीव मे **माया** अधिक होती है। मनुष्य से आए हुए जीव में **मान** अधिक होता है और देव गति से आए हुए जीव में **लोभ** अधिक होता है।

आहार-संज्ञा, वेदनीय-कर्म के उदय से होती है। ओघसंज्ञा दर्शनावरणीय कर्म के क्षयोपशम से और लोक-संज्ञा ज्ञानावरणीय- कर्म के क्षयोपशम से होती है। शेष 7 संज्ञा मोहनीय-कर्म के उदय से तथा ज्ञानावरणीय और दर्शनावरणीय कर्म के क्षयोपशम से होती है।

__नोट__- वेदनीय और मोहनीय कर्म के उदय से तथा ज्ञानावरणीय और दर्शनावरणीय कर्म के क्षयोपशम से विचित्र (अनेक प्रकार की) आहारादि की संवेदना को सज्ञा कहते है। इस दस संज्ञाओं में पहली आठ संज्ञाओं का अर्थ स्पष्ट है शेष दो संज्ञाओं का अर्थ इस प्रकार है- __9. लोक संज्ञा__- लोक रुढिका अनुसरण करने की प्रबल वृत्ति या संवेदना अथवा मतिज्ञानावरणीय के क्षयोपशम से संज्ञा के पदार्थो को विशेष रुप से जानने की त्रीव संवेदना। __10. ओघ संज्ञा__- बिना उपयोग के धुन ही धुन में किसी कार्य को करने की प्रवृत्ति या मतिज्ञानावरणीय के क्षयोपशम से संसार के पदार्थो को सामान्य रुप से जानने की सवेदना।

__नोट__ - स्मृति में रखने के लिए चार संज्ञाओ के प्रथमाक्षर संकेत रूप मे लिए है, - आहार संज्ञा के लिए 'आ', भयसंज्ञा के लिए 'भ', मैथुनसंज्ञा के लिए 'मा' और परिग्रह संज्ञा के लिए 'पी' अक्षर है। नारकी का संकेत 'मा आ पी' है। इसका भाव यह है कि नारकी मे सबसे थोडी मैथुनसंज्ञा, उससे आहारसंज्ञा संख्यात गुण. उससे परिग्रह सज्ञा संख्यात गुण और उससे भी अधिक भयसज्ञा। संज्ञा चार है और अक्षर तीन है। इसका कारण जिस गति मे जो सर्वाधिक सज्ञा है, वह बाद मे स्वयं समझ लेनी चाहिए। संक्षेपीकरण के कारण चौथा अक्षर छोड दिया गया है। गति की अपेक्षा अक्षर इस प्रकार है। नरक मे "मा आ पी"। तिर्यच मे पे, मा, भी। मनुष्य में भ, आ, पी। देव मे - आ, भ, मा।

2. आत्मारम्भी परारम्भी का थोकड़ा
(शतक पहले का उद्देशा पहला)

अहो भगवन ! क्या जीव आत्मारंभी हे या परारभी है या तदुभयारम्भी है या अनारंभी है।

हे गोतम जीव के दो भेद है- ससार समापन्न यानी ससारी और असंसार समापन्न यानी सिद्ध। सिद्द भगवान न आत्मारंभी हे न परारम्भी हे न तदुभयारम्भी है किन्तु अनारभी है।

संसारी जीव के दो भेद- सयति और असयति।

संयति के दो भेद- प्रमादी और अप्रमादी।

अप्रमादी संयति न आत्मारभी है न परारभी है, न तदुभयारभी है किन्तु अनारभी है।

प्रमादी के दो भेद हैं । शुभ योगी और अशुभ योगी ।

शुभ योगी न आत्मारंभी हे न परारभी है न तदुभयारंभी है, किन्तु अनारम्भी है। अशुभ योगी आत्मारभी भी हे परारभी भी है तदुभयारंभी भी है किन्तु अनारम्भी नही है अशुभ योगी की तरह असयति और 23 दण्डक (मनुष्य को छोडकर) कह देने चाहिए। मनुष्य समुच्चय जीव की तरह कह देना चाहिए। किन्तु इतनी विशेषता है कि सिद्ध नहीं कहने चाहिए। सलेशी (लेश्या सहित) समुच्चय मनुष्य की तरह कहना।

कृष्ण, नील, कापोत लेश्या वाले 21 दण्डक (मनुष्य को छोडकर) आत्मारभी है, परारभी हैं तदुभयारभी है किन्तु अनारभी नहीं है। कृष्ण, नील, कापोत, लेश्या वाले मनुष्य के दो भेद सयत और असयत । असंयत आत्मारम्भी है परारंभी है तदुभयारभी है, कितु अनारंभी नहीं है। संयत के दो भेद-शुभ योगी और अशुभ योगी। शुभ योगी न आत्मारंभी है न परारभी है न तदुभयारभी है किन्तु अनारम्भी है। अशुभ योगी का असयत की तरह कह देना चाहिए। तेजो लेशी 17 दण्डक (मनुष्य को छोडकर) पदमलेशी, शुक्ल लेशी वाले दो दण्डक (मनुष्य को छोडकर)आत्मारभी है परारंभी है तदुभयारभी है, किन्तु अनारभी नहीं है समुच्चय तेजो लेशी पदमलेशी, शुक्ल लेशी एवं तेजो लेशी मनुष्य, पदम लेशी मनुष्य शुक्ल लेशी मनुष्य का समुच्चय मनुष्य की तरह कह देना।

3. रोगोत्पत्ति के कारण

शरीर में किसी प्रकार के विकार का उत्पन्न होना- 'रोग' कहलाता है। रोग की उत्पत्ति के नौ कारण स्थानांग सूत्र स्थान 9 मे इस प्रकार लिखे है।

1. **अत्यासन**- अधिक बैठने से, बवासीर एवं अति अशन-अधिक खाने से अर्जीण आदि रोग उत्पन्न होते है।
2. **अहितासन**- आरोग्य के प्रतिकूल आसन से बैठने से अथवा अपथ्यकारी आहार करने से।
3. **अति निद्रा**- आवश्यकता से अधिक नींद लेने से।
4. **अति जागरण**- अधिक जागते रहने से।
5. **उच्चार निरोध**- बड़ी नीति (मल) रोकने से।
6. **प्रस्त्रवण निरोध**- लधुनीति-मूत्र रोकने से । नेत्र संबंधी अनेक रोग ।
7. **मार्ग गमन**- अधिक चलने से या निरंतर चलते रहने से।
8. **भोजन प्रतिकूलता**- अपनी प्रवृत्ति के प्रतिकूल भोजन से।
9. **इन्द्रियार्थ विकोपन**- इन्द्रियों के विकार से। विषयों में अति गृद्ध रहने से ।तपेदिक राजयक्ष्मा (T.B.) आदि रोग।

नोट- पहले के आठ कारण साध्य रोगों के है, किन्तु नौवां कारण असाध्य कोटि का माना जाता है क्योंकि काम विकार में गृद्ध होने से शारीरिक और मानसिक दोनों प्रकार के रोग उत्पन्न हो जाते है।



नोट - * आरम्भ का अर्थ है- ऐसा कार्य करना जिससे किसी जीव को कष्ट पहुँचता हो, या उसके प्राणो का घात होता हो अर्थात् आस्त्रवद्वार में प्रवृत्ति करना 'आरम्भ' कहलाता है।

आत्मारम्भ के दो अर्थ हैं- आस्त्रव मे आत्मा को प्रवृत्त करना और आत्मा द्वारा स्वयं आरम्भ करना। जो ऐसा करता है, वह आत्मारंभी कहलाता है। दूसरे को आस्त्रव में प्रवृत्त करना या दूसरे के द्वारा आरम्भ कराना 'परारम्भ' है। जो ऐसा करता है, वह 'परारंभी' कहलाता है। आत्मारम्भ और परारंभ दोनों करने वाला जीव 'उभयारंभी' कहलाता है। जो जीव आत्मारंभ, परारम्भ और उभयारम्भ से रहित होता है, वह 'अनारम्भी' कहलाता है।

अष्ट प्रवचन (पाँच समिति तीन गुप्ति) का थोकड़ा

श्री उत्तराध्ययन सूत्र के 24 वे अध्ययन मे समिति गुप्ति का वर्णन इस प्रकार बताया है -

समिति- प्राणातिपात (जीव हिसा) से निवृत्त मुनि की आवश्यक निर्दोष सम्यक् प्रवृत्ति को समिति कहते है, तथा उत्तम परिणामो की चेष्टा को अथवा यतना से प्रवृत्ति करने को समिति कहते है। इसके पांच भेद है- 1. ईर्या समिति 2. भाषा समिति 3. एषणा समिति 4. आयाण-भंड-मत्त-निक्खेवणा समिति 5. उच्चार-पासवण-खेल-जल्ल-सिंघाण परिट्ठावणिया समिति।

गुप्ति- संसार के कारणो से आत्मा की सम्यक् प्रकार से रक्षा "गुप्ति" है। तीनो योगों (मन-वचन-काया) की अशुभ प्रवृत्ति को रोकना भी गुप्ति है। इसके तीन भेद हैं - 1.मनोगुप्ति 2.वचन गुप्ति और 3. काया गुप्ति।

कल्याणकारी होने से इन आठ गुणो को माता की उपमा दी जाती है। अथवा जिन प्रवचन रूप द्वादशांगी वाणी का जिसमे समावेश हो जाए (प्रवचन जिसमे मा जाए अर्थात् समा जाए) उसे प्रवचन माता कहते है।

जिस तरह माता अपने पुत्र पर अत्यन्त प्रेम करती है, और उसका कल्याण चाहती है।

पाँच समिति का स्वरूप

(1) ईर्या समिति- आवश्यकता होने पर विवेक और उपयोग पूर्वक चलने को ईर्या समिति कहते है। ईर्या समिति के चार कारण होते है-

1. आलवन 2 काल 3. मार्ग और 4 यतना।

1. आलंबन- भगवान ने ज्ञान दर्शन और चारित्र के प्रयोजन के लिए गमनागमन करने की आज्ञा दी है। उक्त प्रयोजन के बिना गमनागमन करने की आज्ञा नही है।

2. काल- ईर्या का काल दिन का ही है। रात्रि मे दिखाई न देने के कारण अत्यन्त आवश्यक प्रयोजन के बिना गमन की आज्ञा नही है।

3. मार्ग- साधु टेढे या उजाड मार्ग से न जाकर सीधे राजमार्ग से चले। क्योकि कुमार्ग मे चलने से आत्मा और सयम की विराधना होने की सभावना रहती है।

4.यतना- यतना के चार भेद है- द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव।

1. द्रव्य से- उपयोगपूर्वक जीवादि पदार्थो को देखता हुआ चले।

2. क्षेत्र से - युगमात्र आगे की भूमि को देखकर यतनापूर्वक चले।

3. काल से - जब तक दिन रहे तभी तक यातना से चले।

4. भाव से- चलते समय अपने उपयोग को ठीक रखना, भाव यतना है। 5 इन्द्रियों के विषय (शब्द, रूप, गन्ध, रस, स्पर्श) तथा 5 प्रकार के स्वाध्यायों को छोडकर सिर्फ गमन क्रिया में तन्मय होकर और उसी को प्रधानता देकर उपयोगपूर्वक गमन करे।

(2) भाषा समिति- आवश्यकता होने पर हित, मित, प्रिय और निर्दोष वचन बोलने को भाषा समिति कहते है। भाषा समिति के 4 भेद-

1. द्रव्य 2. क्षेत्र 3. काल और 4. भाव।

1.द्रव्य से- कठोरकारी, कर्कशकारी, छेदकारी, भेदकारी, निश्चयकारी, सावद्यकारी, क्लेशकारी और मिश्र इन आठ भाषाओं को तजकर निर्दोष, सत्य और परिमित भाषा बोलें ।

2. क्षेत्र से- रास्ते चलता हुआ नहीं बोले।

3. काल से - एक प्रहर रात्रि व्यतीत होने के बाद से लेकर सूर्योदय तक ऊँचे स्वर में नहीं बोलें।

4. भाव से - उपयोग सहित तथा रागद्वेष रहित भाषा बोलें।

(3) एषणा समिति- 42 दोष टालकर निर्दोष और परिमित भिक्षादि ग्रहण करने को एषणा समिति कहते है।

एषणा समिति के 4 भेद है- 1. द्रव्य 2. क्षेत्र 3 काल 4. भाव।

1. द्रव्य से - उद्गम के 16, उत्पादना के 16 और एषणा के 10, इन 42 दोषो को टालकर आहार पानी, (वस्त्र, पात्र, मकान) आदि की गवेषणा करे।

2. क्षेत्र से - दो कोस (लगभग 7 किलोमीटर) उपरान्त ले जाकर अशनादि नहीं भोगें।

3. काल से- पहले प्रहर मे लाया हुआ अशनादि चौथे प्रहर मे नहीं भोगे।

∴ युग का परिमाण 96 अगुल होता है। 96 अगुल = 4 हाथ।

4. भाव मे- रागद्वेष रहित होता हुआ माडला के पॉच दोषो को टालकर अशनादि भोगे।

(4) **आयाण-भण्ड-मत्त निक्खेवणा समिति-** वस्त्र, पात्र आदि उपकरणो को देख और पूजकर यतना से उठाने, रखने और उपयोग करने को **आयाण-भण्ड-मत्त निक्खेवणा समिति** कहते है। उपधि दो प्रकार की होती है-1. ओघोपधि और 2. औपग्रहिकोपधि।

1. **ओघोपधि-** जो हमेशा पास रखी जावे। जैसे- वस्त्र, पात्र, रजोहरण आदि।
2. **औपग्रहिकोपधि-** जो संयम रक्षार्थ थोडे समय के लिए ग्रहण की जावे। जैसे- पाट, पाटला, शय्या आदि।

उपर्युक्त दो प्रकार के उपकरणो को ग्रहण करते तथा रखते हुए उपयोग पूर्वक देखे तथा पूजे। आयाण-भण्ड-मत्त-निक्खेवणा समिति के 4 भेद-1. द्रव्य, 2. क्षेत्र, 3 काल और 4 भाव।

1. **द्रव्य से-** भण्डोपकरण यतना से लेवे, यतना से रखे ।

2. **क्षेत्र से -** इधर-उधर बिखरे हुए न रखे, व गृहस्थ के घर पर न रखे।

3. **काल से -** कालोकाल उपयोगपूर्वक प्रतिलेखना करे।

4. **भाव से -** धार्मिक उपकरण रागद्वेष, रहित होकर काम मे लेवे तथा राग द्वेष उत्पन्न करने वाली उपधि न रखे।

(5) उच्चार-पासवण-खेल-जल्ल-सिघाण परिट्ठावणिया समिति।

मल-मूत्रादि त्याज्य वस्तुओ को 10 विशेषणो से युक्त स्थान मे उपयोग पूर्वक परठने को उच्चार-पासवण-खेल-जल्ल-सिघाण परिट्ठावणिया समिति कहते है। इसके 4 भेद है- 1 द्रव्य 2 क्षेत्र 3 काल 4. भाव।

1. **द्रव्य से-** उच्चार (मल), पासवण (मूत्र), खेल (कफ), सिघाण (श्लेष्म) जल्ल (शरीर का मैल, पसीना आदि), आहार (न खाने योग्य अशनादि) उपधि (उपकरण), शरीर (शव) तथा अन्य इसी प्रकार की परठने योग्य वस्तुओ को जहॉ-तहॉ न फेककर 10 विशेषणो से युक्त स्थान (स्थण्डिल) मे परठे।

---

* एषणा समिति 3 प्रकार की है- 1 गवेषणा, 2 गृहणैषणा 3 परिभोगैषणा।
1 **गवेषणा-** आहारादि ग्रहण करने से पूर्व शुद्धि अशुद्धि की खोज करना।
2 **ग्रहणैषणा-** आहारादि ग्रहण करते समय शुद्धि अशुद्धि की खोज करना ।
3 **परिभोगैषणा-** आहारादि भोगते समय शुद्धि-अशुद्धि की खोज करना।

2. क्षेत्र से - 10 प्रकार के शुद्ध स्थण्डिल में उच्चारादि परठें।

3. काल से- सूर्यास्त से पूर्व संध्याकाल मे स्थण्डिल भूमि की प्रतिलेखना करे।

4. भाव से- परठने जाते समय 3 बार आवस्सिया कहें। परठने के योग्य भूमि को देखें, पूंजे और शकेन्द्र महाराज की आज्ञा लेकर लगभग 4 अंगुल ऊँचे से यतनापूर्वक परठे। परठकर 3 बार वोसिरामि कहें। आते समय 3 बार निसीही कहें। स्थान पर आकर ईरियावहिया का कायोत्सर्ग करें।

तीन गुप्ति का स्वरूप

(1) मनोगुप्ति- आर्त्तध्यान, रौद्रध्यान, संरंभ, समारंभ और आरंभ संबंधित संकल्प और विकल्प न करना मनोगुप्ति है। यह 4 प्रकार की होती है-

1. सत्या 2. मृषा 3. सत्यामृषा और 4. असत्यामृषा।

पदार्थो के यथार्थ स्वरूप का चिन्तन करना **सत्य मनोयोग** है। इसे विषय करने वाली गुप्ति भी उपचार से सत्य कही जाती है। जैसे- 'जगत् में जीव तत्व है'- इस प्रकार चिन्तन करना। इसके विपरीत **असत्य मनोयोग** है। उसे विषय करने वाली गुप्ति मृषा कहलाती है। जैसे-'जगत में जीवतत्व नहीं है'- ऐसा चिन्तन करना। दोनों प्रकार के मनोयोग को विषय करने वाली गुप्ति का नाम **सत्यामृषा** है। जैसे- आम्रादि विविधवृक्षो के वन को यह आम का वन है ऐसा चिन्तन करना। सत्य और असत्य दोनो प्रकार के विषयों से रहित मनोयोग का विषय करने वाली गुप्ति को **असत्यामृषा** कहते है। जैसे- हे देवदत्त! घी का घड़ा लाओ। संरंभ आदि को स्पष्ट करने के लिए निम्नलिखित उदाहरण दिए जाते हैं-

1 **संरंभ-** मैं इसे परितापना दू या मारूं, ऐसा मन मे विचार करना।

2 **समारंभ-** किसी प्राणी को मानसिक संक्लिष्ट ध्यान द्वारा परितापना देना।

3 **आरंभ-** किसी प्राणी को मानसिक संक्लिष्ट ध्यान द्वारा मार देना।

(2) वचन गुप्ति- संरंभ, समारंभ और आरंभ सम्बन्धी अशुभ वचन का त्याग करना, विकथा न करना, मौन रखना वचन गुप्ति है। यह 4 प्रकार की होती है 1. सत्या 2. मृषा 3. सत्यामृषा और 4. असत्यामृषा। मनोगुप्ति मे मन के व्यापार का संबंध है, वचन गुप्ति में वचन के व्यापार का सम्बन्ध समझना चाहिए।

卐

परिशिष्ट

आहार के 47 दोष

गवेषणैषणा संबंधी (16 उग्गम, 16 उत्पादना) दोष-

गृहस्थ(दाता) द्वारा लगने वाले उग्गम के 16 दोष-

गाथा- आहाकम्मुद्देसिय, पूइकम्मे य मीसजाए य।
ठवणा पाहुडियाए, पाओअर कीय पामिच्चे॥1॥

परियट्टिए अभिहडे, उब्भिन्ने मालोहडेइय।
अच्छिज्जे अणिसिट्टे, अज्झोयरए य सोलसमे ।।2।।

1. **आधाकर्म-** साधु के निमित्त बनाया हुआ आहारादि आधाकर्म दोष से दूषित है
2. **औद्देशिक-** जिस साधु के लिए आहारादि बना है वही लेवे तो आधाकर्म तथा अन्य साधु लेवे तो औद्देशिक दोष है।
3. **पूतिकर्म-** शुद्ध आहार में आधाकर्म आदि आहार का अंशमात्र भी मिला हुवा हो तो वह आहारादि पूतिकर्म दोष से दूषित है।
4. **मिश्रजात-** अपने और साधु के लिए एक साथ बनाया हुआ आहारादि मिश्रजात दोष से दूषित है।
5. **स्थापना-** साधु को देने की इच्छा से अलग रखा हुआ आहारादि स्थापना दोष से दूषित है।
6. **प्राभृतिका-** साधुजी को विशिष्ट आहार बहराने के लिए मेहमान या जीमनवार के समय को आगे - पीछे करना प्राभृतिका दोष है।
7. **प्रादुष्करण-** अंधेरे में अग्नि-दीप आदि का उजाला करके, खिडकी वगैरह बनाकर दिया आहारादि प्रादुष्करण दोष से दूषित है।
8. **क्रीत-** साधु के लिए खरीदा हुआ आहारादि क्रीत दोष से दूषित है।
9. **प्रामीत्य-** साधु के लिए उधार लाया हुआ आहारादि प्रामीत्य दोष से दूषित है।
10. **परिवर्तित-** साधु के लिए अदल-बदल के लिया हुआ आहारादि परिवर्तित दोष से दूषित है।
11. **अभिहृत-** साधु के लिए सामने लाया हुआ आहारादि अभिहृत दोष से दूषित है।
12. **उद्भिन्न-** साधु को घी आदि वहराने के लिए वर्तन का लेप (छंदा) सील आदि खोलकर देवे तो उद्भिन्न दोष से दूषित है।

13. मालापहृत- ऊपर नीचे या तिरछे दिशा मे जहां आसानी से हाथ न पहुचे वहा नि सरणी आदि लगाकर दिया हुआ आहारादि मालापहृत दोष से दूषित है।

14. अच्छेद्य- निर्बल से या अपने आश्रित नौकर चाकर या पुत्र वगैरह से छीनकर आहारादि देवे तो अच्छेय दोष से दूषित है।

15. अनिसृष्ट- भागीदारी की वस्तु भागीदार की बिना इच्छा से देवे तो अनिसृष्ट दोष से दूषित है।

16. अध्यवपूरक- साधुओ का आगमन सुनकर बनते भोजन मे अधिक मिलाया (ऊरा) हुआ आहारादि अध्यवपूरक दोष से दूषित है।

विचक्षण मुनि इन दोषों को टालते हुए आहारादि लेते है।

साधु के द्वारा लगने वाले उत्पादना के 16 दोष

गाथा- धाई दूई निमित्ते, आजीव वणीमगे तिगिच्छा य।
कोहे माणे माया लोभे य हवंति दस ए ए ॥1॥
पुव्विपच्छासंथव विज्जा, मंते य चुण्णजोगे य।
उप्पायणाए दोसा, सोलसमे मूल कम्मे य ॥2॥

1. धात्री - धाय माता की तरह गृहस्थ के बच्चो को खिलाना-पिलाना आदि कार्य करके आहारादि लेवे।
2. दूती - गृहस्थ का संदेश उनके स्वजन को कहकर आहारादि लेवे।
3. निमित्त - भूत, भविष्य और वर्तमान को जानने के शुभाशुभ निमित्त बताकर आहारादि लेवे।
4. आजीव - स्पष्ट या अस्पष्ट रूप से गृहस्थ को अपनी जाति, कुल आदि बताकर आहारादि लेवे।
5. वनीपक - भिखारी की तरह दीनता प्रकटकर आहारादि लेवे।
6. चिकित्सा - रोग का उपाय बताकर अहारादि लेंवे।
7. क्रोध - क्रोध करके या गृहस्थ को श्रापादि का भय बताकर आहारादि लेवे।

8. मान - मै लब्धिवान हूं, तपस्वी हूं, बहुश्रुत हूं इस प्रकार अभिमानपूर्वक आहारादि लेवें।

9. माया - छल कपट करके आहारादि लेवें।

10. लोभ - लोभ करके आहारादि लेवें।

11. पूर्व पश्चात संस्तव- आहारादि लेने के पहले या पीछे दाता की प्रशंसा करें।

12. विद्या - विद्या का प्रयोग करके या सिखाकर आहारादि लेवें।

13. मंत्र - मंत्र का प्रयोग करके या सिखाकर आहारादि लेवें।

14. चूर्ण - अदृष्ट होने का अंजनादि बताकर आहारादि लेवें।

15. योग - पादलेप, वशीकरण आदि सिद्धि बताकर आहारादि लेवे।

16. मूलकर्म - गर्भाधान, गर्भपात आदि संसार परिभ्रमण कराने वाली सावद्य क्रिया बताकर आहारादि लेवें।

(संयमवंत सुसाधु इन दोषों को टालते हुए आहारादि लेते हैं।)

ग्रहणैषणा के 10 दोष

गाथा - संकिय मक्खिय निक्खित्त, पिहिय साहरिय दायगुम्मीसे।
अपरिणय लित्त छुड्डिय, एसण दोषा दस हवंति

1. शंकित- साधु या गृहस्थ को आधाकर्मादि दोषों का संदेह होने पर आहारादि लेवें।

2. म्रक्षित- देते समय आहार, हाथ, पात्र आदि का सचित्त वस्तु से छू जाना (संघटा होना) तथा दान देने से पहले या बाद में हाथ पात्रादि धोना।

3. निक्षिप्त- सचित्त वस्तु पर रखा हुआ आहारादि लेवे।

4. पिहित- सचित्त वस्तु से ढका हुआ आहारादि लेवें।

5. साहरित- असूजती वस्तु अलग करके उसी बर्तन से आहारादि लेवे।

6. दायक- दान देने के अयोग्य व्यक्ति से दान लेवें। पिडनिर्युक्ति में दायक के 40 दोष बताए है। (देखें जैन स्तोक मंजूषा भाग-1)

7. उन्मिश्र- सचित्त या मिश्र के साथ मिला हुआ अचित्त आहारादि लेवे।

8. अपरिणत- जो पूर्णरूप से शस्त्र परिणत न हुआ हो, ऐसा आहारादि लेवें।

9. लिप्त- तुरन्त की लीपी हुई गीली भूमि को उल्लंघन कर आहारादि लेवे।
10. छर्दित- जिसके छीटे नीचे पड रहे हो ऐसा आहारादि देवे या लेवे।

उपरोक्त दोष साधु और गृहस्थ दोनो के निमित्त से लगते है।

परिभोगैषणा (मांडला) के 5 दोष

मांडला के दोष सिर्फ साधु को ही लगते हैं।

गाथा- संजोगापमाणं च, इंगाल- धूम- कारणे।
ए ए बायालीस दोसा, वज्जंयंति महामुणी ।।

धर्म सग्रह अ 3 गाथा 23/पिंडर्नियुक्ति गाथा 1

1. संयोजना- जिह्वा की लोलुपता के वश होकर स्वाद या गंध बढाने के लिए खाद्य वस्तुओ को मिलाना। **2. अप्रमाण-** जिह्वा स्वाद के लोभ से प्रमाण से अधिक आहार करना। **3. अंगार-** सरस आहार करते हुए आहार की या दाता की प्रशसा करते हुए खाना। यह गृद्धपना संयम को कोयले की तरह जला देता है. **4 धूम-** अरस, विरस (प्रतिकूल) आहार करते हुए आहार की या दाता की निदा करना। यह दोष चारित्र रूपी ईधन के धुंए की तरह है। **5. अकारण-** क्षुधा वेदनीयादि छ कारणो मे से किसी भी कारण के न होने पर आहारादि करना।

आहार करने के छः कारण

गाथा- वेयणवेयावच्चे, इरियट्ठाए य संजमट्ठाए।
तह पाणवत्तियाए, छट्ठं पुण धम्मचिन्ताए।। (उत्तरा अ 26गा 33)

1. वेदना- क्षुधावेदनीय की शांति के लिए । **2. वैयावृत्य-** अपने से बडे आचार्यादि की वैयावृत्य करने के लिए। **3.ईर्यापथ-** मार्गादि की शुद्धि के लिए। **4. संयमार्थ-** प्रेक्षादि सयम की रक्षा हेतु। **5. प्राणवृत्तितया-** अपने प्राणो को धारण करने के लिए। **6. धर्मचिन्तार्थ -** शास्त्रपठन- पाठन आदि धर्मचितन के लिए।

आहार त्यागने के छः कारण

गाथा- आयंकेउवसग्ग, तितिक्खया बंभचेर-गुत्तीसु।
पाणिदयातवोहेऊं, सरीर- वोच्छेयणट्ठाए।। (उत्तरा अ 26 गाथा 35)

1. आतंक - बीमार होने पर। **2. उपसर्ग-** राजा, स्वजन, देव, तिर्यच द्वारा

उपसर्ग दिए जाने पर। **3. ब्रह्मचर्य गुप्ति-** ब्रह्मचर्य की रक्षा के लिए। **4. प्राणिदयार्थ-** प्राण, भूत, जीव और सत्वो की रक्षा के लिए। **5. तपो हेतु-** तप करने के लिए **6. संलेखना-** अंतिम समय में सलेखना से शरीर छोड़ने के लिए।

स्थण्डिल के 10 विशेषण

गाथा- अणावायमसंलोए, परस्सऽणुवधाइए।
समे अज्झुसिरे यावि, अचिरकालकयम्मि य।
वित्थिण्णे दूरमोगाढ़े, णासण्णे बिलवज्जिए।
तसपाणबीयरहिए, उच्चाराईणि वोसिरे ।।

(उत्तरा. अ 24. गाथा 17,18)

1. जहां लोगों का आना जाना नहीं होता हो, न दृष्टि पडती हो।
2. जहां परठने से संयम (छह काय) का उपघात, आत्मा का (शरीर विराधना) उपघात, प्रवचन उपघात(शासन की निदा) न हो। 3. जहां विषम ऊँची, नीची भूमि नहीं हो। 4. पोली भूमि नहीं हो तथा घास पत्ते आदि से ढंकी भूमि न हो। 5, जिसे अग्नि आदि के द्वारा अचित बने बहुत अधिक समय न हुवा हो क्योकि बहुत समय निकल जाने पर भूमि पुन सचित बन सकती है। 6. परठने योग्य भूमि कम से कम 1हाथ लम्बी चौड़ी हो। 7. जो भूमि कम से कम 4 अंगुल नीचे तक अचित्त हो।8. जहां ग्राम-नगर उद्यानादि निकट न हो। 9. जहां चूहे आदि के बिल न हो। 10. जहॉ द्वीन्द्रियादि त्रस प्राणी, बीज, लीलन, फूलनादि अन्य स्थावर प्राणी न हो। इन 10 विशेषणो से युक्त स्थान पर परठें।



कथा विभाग

1. महासती ब्राह्मी

इस अवसर्पिणीकाल मे ज्ञान, विज्ञान, कृषि-उद्योग, समाज-व्यवस्था, सभ्यता एव संस्कृति आदि के प्रथम प्रणेता भगवान् ऋषभदेव थे। इस दृष्टि से जैनाचार्यो ने 'आदि ब्रह्मा' कह कर भगवान् ऋषभदेव की स्तुति की है। संभवत इसी नाम के कारण श्री ऋषभदेव की प्रथम पुत्री 'ब्राह्मी' नाम से प्रसिद्ध हुई।

ब्राह्मी मानवयुग की वह प्रथम नारी है, जिसने मनुष्य को सर्वप्रथम अक्षरबोध दिया। शिल्प, लिपि एवं कला की वह प्रवर्तिका है और वर्तमान जैन संस्कृति की प्रथम श्रमणी भी। उस महामानवी भगवती ब्राह्मी की जीवन-कथा इस प्रकार है।

बहुत समय पहले की बात है, एक क्षितिप्रतिष्ठ नाम का सुदर नगर था। उस नगर मे एक प्रसिद्ध मित्रमंडली थी, जो अपनी घनिष्ठ मैत्री और जन सेवा के कारण नगर मे प्रख्यात थी। उस मंडली मे विभिन्न वर्गो के छह मित्र थे राजकुमार महीधर, मंत्री का पुत्र सुबुद्धि, वैद्य-पुत्र जीवानन्द तथा श्रेष्ठी-पुत्र पूर्णचद्र, शीलपुंज और केशवकुमार।

एक बार छहो मित्र नगर के बाहर बगीचे मे घूम रहे थे। हंसी-मजाक और व्यंग्य-विनोद के कहकहे चल रहे थे। वे घूमते हुए एक सघन-वृक्ष कुज के पास से निकले तो सहसा एक ध्यानस्थ मुनि पर उनकी नजर पडी। हँसी-मजाक बंद करके वे जैसे ही श्रद्धा के साथ मुनि को नमस्कार करने के लिए नजदीक आए और मुनि की ओर देखा तो बस ऑखे फटी रह गई। मुनि गलितकुष्ठ-रोग से पीडित थे।

उनके शरीर से रक्त और पीप झर रहा था, जैसे पसीना झर रहा हो। चमडी गल रही थी और उस पर मक्खियॉ भिन-भिना रही थी, यह दृश्य देखते ही सबके हृदय मे कंपकपी पैदा हो गई। पर, मुनि तो इतनी वेदना और पीडा को चुपचाप सहे जा रहे थे। वे निश्चल ध्यान मे खडे थे। दोनो हाथ घुटनो की ओर ऐसे स्थिर लटक रहे थे जैसे वृक्ष की शाखाएँ लटकी हो, और ऑखे बंद, चेहरा प्रशान्त। मुनि के शरीर की दशा देखकर पॉचो मित्रो ने वैद्य जीवानन्द की ओर देखा- "मित्र! तुम जगत् प्रसिद्ध वैद्यराज के पुत्र हो, स्वय

महान् वैद्यराज भी हो, तुम्हारे होते हुए भी एक तपस्वी साधु रोग से इस प्रकार ग्रस्त रहे, यह क्या उचित है? फिर ऐसे महान साधकों की सेवा से तो न केवल तुम्हारी चिकित्सा प्रणाली कृतार्थ होगी, पर जीवन भी कृतार्थ हो जाएगा।''

जीवानन्द ने गंभीर होकर कहा-''मित्रो ! तुमने मेरे मुँह की बात ले ली। मै भी यही सोच रहा हूँ। इस पुण्यप्रसंग से यदि मै दूर हट गया तो समझो आती हुई लक्ष्मी को ठोकर मार दी। मुनि का यह रोग दुःस्साध्य अवश्य है, पर, दुस्साध्य को साध्य करना, दु:संभव को संभव बनाना- इसी में तो मनुष्य की महिमा है। चलो, हम सब मिलकर प्रयत्न करे।''

छहों मित्र अब मुनि की चिकित्सा के साधन जुटाने में लग गए। लक्षपाकतैल, गौशीर्षकचंदन और रत्नकम्बल ये तीन वस्तुएँ आवश्यक थीं। तैल जीवानन्द के औषधालय में था, किन्तु चन्दन और रत्नकम्बल नगर में खोजने से भी कहीं नहीं मिले। राजकुमार और मंत्रीपुत्र स्वयं नगर का चप्पा-चप्पा छानकर हार गए। आखिर एक वृद्ध व्यापारी के पास ये दोनों वस्तुएँ मिलीं। पर, ऐसी बहुमूल्य वस्तुएँ देने में वह अचकचा रहा था। राजकुमार ने कहा-''तुम्हें जितना धन चाहिए ले लो। किंतु ये दोनो वस्तुएँ देनी होगी।''

''आपको इन दुर्लभ वस्तुओं की ऐसी क्या जरूरत आ पड़ी?- वृद्ध वणिक् ने आश्चर्यपूर्वक पूछा। तभी अन्य मित्र भी घूमते हुए वहाँ आ गए। राजकुमार ने बताया ''एक तपस्वी संत को कुष्ठ हो गया है, भयंकर वेदना सह रहे है, हम उनकी चिकित्सा के लिए ये साधन जुटा रहे हैं।''

वणिक् ने उच्चकुल के इन युवकों में सेवा की लगन देखी तो उसका दिल पसीज उठा। ''भोग और आनन्द के समय मे भी ये सेवा का व्रत लिए यों स्वयं को न्यौछावर कर रहे है- और मै धन का लालच कर इनसे पैसे मांगना चाहता हूँ ? मुझे भी कुछ सत्कर्म करना चाहिए- परलोक में पैसा नहीं, पुण्य ही काम आएगा'- यह सोचकर वृद्ध ने अपनी दुकान से गौशीर्ष चन्दन और रत्नकंवल निकाला। राजकुमार के हाथों में थमाते हुए उसकी आँखें मुस्करा रही थीं।

''इनका मूल्य क्या है''- राजकुमार ने पूछा।

''बेटा ये तो अमूल्य है। किसी संत की सेवा में मेरी वस्तु काम आएगी तो वस मैं कृतार्थ हो जाऊँगा। मुझे धन नहीं चाहिए।'' छहों मित्र कुछ देर तक वृद्ध की ओर

आश्चर्यपूर्वक देखते रहे और फिर धन्यवाद के साथ आगे चल पडे।

छहो मित्र उद्यान मे आये। जीवानन्द ने अपने हाथ से मुनि के शरीर पर लक्षपाक तेल की मालिश की। फिर रत्नकम्बल से शरीर ढॅक दिया। कुछ ही क्षणो मे रोग के कीटाणु कम्बल से चिपट गए। कम्बल हटाकर दूर किया और गौशीर्षचन्दन का लेप मुनि के शरीर पर कर दिया। तीन दिन उपचार करने से मुनि का समस्त रोग दूर हो गया, काया कंचन-सी चमक उठी।

निस्पृहभाव से संत-सेवा और जन-सेवा करने वाली इस मित्र मंडली ने एक दिन साधना-मार्ग पर बढने का निश्चय किया। भोग के मार्ग पर जो साथ थे, वे त्याग मार्ग मे भी साथ निभाने को तैयार हो गए। वास्तव मे यही तो सच्ची मित्रता है। छहो मित्रो ने सयम-व्रत स्वीकार कर तपस्या की, ध्यान-साधना की, और अपने जीवन को कृतार्थ किया। ये ही छह मित्र आगे चलकर कर्मयुग के प्रारम्भ मे क्रमश· ऋषभदेव (जीवानन्द), भरत (महीधर), वाहुवली (सुवुद्धि) ब्राह्मी (पूर्णभद्र) सुन्दरी (शीलपुंज) और श्रेयांसकुमार (केशव) के रूप मे अवतरित हुए।

भगवान् ऋषभदेव के सौ पुत्र थे। उनमे भरत सबसे बडे थे। दो पुत्रियां थीं जिनका नाम था- ब्राह्मी और सुन्दरी। ऋषभदेव का जैसा स्नेह पुत्रो पर था वैसा ही स्नेह पुत्रियो पर था। उन्होने देखा- पुरुष की अपेक्षा नारी का मानस अधिक स्थिर एवं शांत होता है। पुरुष मे राज्यलिप्सा, अधिकार भावना प्रबल होती है, जबकि नारी मे सेवा, आत्मसयम एवं कला तथा ज्ञान की अभिरुचि विशेष होती है। इसीलिए उन्होने अपनी पुत्री ब्राह्मी को सर्व-प्रथम अक्षर ज्ञान दिया। ब्राह्मी की प्रतिभा तीक्ष्ण थी, नई-नई विद्याएँ सीखने की प्रबल जिज्ञासा थी उसमे। वर्णमाला का पहला अक्षर सर्वप्रथम उसी ने अपने हाथ से लिखा, जिस कारण हमारी लिपि आज भी ब्राह्मी-लिपि के नाम से प्रसिद्ध है। ऋषभदेव से उसने शिल्प, सगीत, चित्रकला, काव्य कला आदि चौसठ कलाएँ सीखीं और अन्य स्त्रियो मे उसका प्रचार किया। ब्राह्मी चाहती थी कि नारी-जाति ज्ञान-विज्ञान, शिल्प-सगीत आदि कलाओ मे उत्तरोत्तर प्रगति करती हुई, साम्राज्य-लिप्सु पुरुषवर्ग को मार्गदर्शन दे, उसे ज्ञान एवं चारित्र की साधना का उपदेश करे। इसलिए उसने घर-घर मे कला एव शिक्षा का प्रचार किया। राजकुमारी होते हुए भी वह स्वयं ब्रह्मचारिणी रहकर एक उपदेशिका का सादा त्यागमय जीवन बिताने लगी।

ऋषभदेव अपने पुत्रों को राज्य सौंपकर स्वयं तपस्या करने जंगल मे चले गये। एक हजार वर्ष तक एकान्त में मौन, स्वाध्याय, ध्यान एवं तपस्या करते हुए ऋषभदेव ने केवल ज्ञान, केवलदर्शन प्राप्त किया।

ऋषभदेव तीर्थंकर बनने के बाद उसी अयोध्या नगरी में पधारे, हजारों-हजार नर-नारी भगवान् के दर्शन करने, उनकी दिव्य-विभूतियों को देखने नगर के उद्यान की ओर चल पड़े।

भगवान ऋषभदेव की माता मरुदेवी काफी वृद्ध हो चुकी थी, फिर भी स्वस्थ व प्रसन्न थी। एक हजार वर्ष बाद उसने अपने पुत्र की सुख शांति के समाचार सुने, उनकी दिव्य विभूतियों का वर्णन सुना तो माता का रोम-रोम पुलक उठा। हर्षोल्लास के साथ मरुदेवी, भरतजी, राजकुमारी ब्राह्मी और सुंदरी तथा अगणित नर-नारियों के साथ भगवान् के दर्शन करने आई।

मरुदेवी हाथी की शाही सवारी पर बैठी भगवान् ऋषभदेव की दिव्य छटा देखने लगी। मातृहृदय की ममता ने स्नेह-विभोर कर दिया। वह धीरे-धीरे ऋषभदेव की आध्यात्मिक विभूतियो का भी विचार करने लगी। मरुदेवी के हृदय में उछलती स्नेहधारा धीरे-धीरे वैराग्य के रूप में बदल गई। उनका मन शांत एवं वैराग्य रस मे डूब गया। उच्च विचारों की श्रेणी पर चढते-चढते मरुदेवी को वहीं केवलज्ञान हो गया और दूसरे ही क्षण वह प्राण त्याग कर सिद्ध बन गई।

मरुदेवी का आकस्मिक निर्वाण देखकर भरत, ब्राह्मी, सुंदरी आदि स्नेह-विह्वल हो उठे। सबका मन खिन्न, उदास एवं विरक्त-सा हो गया। भरत के मन की विरक्ति क्षणिक रही, किन्तु ब्राह्मी व सुन्दरी के मन ने तो बिल्कुल नया मोड ले लिया। दोनों बहनें पिताश्री की तरह साधना पथ पर चलकर आत्मकल्याण के लिए तत्पर हो गई। ब्राह्मी तो अब तक उपदेशिका-सा सादा व त्यागमय जीवन बिताती आ रही थी। भाई भरत चक्रवर्ती के राजसी वैभव का उस पर कुछ भी असर नहीं था। उसके उदात्त विचार और उच्च जीवन के संस्कारों से भरत आदि समस्त परिवार प्रभावित था।

ब्राह्मी ने भरत से कहा- "भाई ! मैं पूज्य पिताजी की भाँति साधनामय जीवन बिताना चाहती हूँ। मुझे दीक्षा की अनुमति दो।"

भरत की आँखो मे आँसू छलछला उठे। उसने कहा- "बहन ! कुछ दिन तो रुको ! हम भाई-बहन का आदर्श प्रजाजनो को सिखलाएँ, स्नेह और ममता के मधुर संस्कारो से जन-जीवन को सुखमय बनाने की कला का विकास करे।"

ब्राह्मी ने सुदरी की ओर इशारा किया। ब्राह्मी ने उसकी ओर देखकर कहा- "भाई ! तुम अकेले कहाँ हो? सुंदरी तुम्हे अपने मधुर स्नेह से उपकृत करती रहेगी। मैने अपना निश्चय कर लिया है, तुम मुझे सयम पथ पर कदम बढाने से अब मत रोको।"

ब्राह्मी के दृढ विचारो का प्रतिरोध करने का स्वयं भरत भी साहस नहीं कर सके। पर उनकी मूक ममता और स्नेह-बधन ने सुदरी के बढते कदम रोक दिए।

ब्राह्मी ने भगवान् ऋषभदेव (जो कर्मयुग मे धर्म की आदि करने के कारण 'आदिनाथ' भी कहलाते थे) से दीक्षा देने की प्रार्थना की। ब्राह्मी को दीक्षित होते देखकर अनेक राजरानियो तथा राजकुमारियो ने भी उनके साथ दीक्षा लेने का पवित्र सकल्प किया और वे भी प्रभु चरणो मे दीक्षित हो गई। इस प्रकार नारी जगत की आदि शिक्षिका भगवती ब्राह्मी अध्यात्म पथ की पहली साधिका बनी। श्रमणी परम्परा की वही पहली महाश्रमणी थी।



2. वैराग्यमूर्ति सुन्दरी

भगवती ब्राह्मी को दीक्षित होते देखकर सुन्दरी का मन भी दीक्षा लेने को उतावला हो गया। किन्तु भरत चक्रवर्ती , जो कि बडे भाई होने के नाते पितातुल्य पूज्य भी थे, और राजा होने के नाते शासक भी थे, दोनो ही कारणो से उनकी आज्ञा मिलना जरूरी था। उन्होने सुन्दरी को दीक्षा लेने से रोक दिया। सुन्दरी का मन भीतर-ही-भीतर तडप कर रह गया, पर भरत की आज्ञा का उल्लघन तो कैसे कर सकती थी?

उस युग की समस्त नारी जाति मे सुन्दरी का लावण्य और रूप अद्वितीय था। विशेष सुन्दरता के कारण ही उसका नाम भी 'सुन्दरी' प्रख्यात हो गया। पर, इतनी सुन्दर होते हुए भी सासारिक विषयो के प्रति उसका मन बिल्कुल विरक्त था। और जब माता मरुदेवी को हाथी के हौदे पर बैठे-बैठे ही देह त्यागते देखा तो उसका मन ससार की

नश्वरता के प्रति बिल्कुल उदासीन हो गया। सुन्दरी जब दीक्षा लेने के लिए भाई भरत से अनुमति माँगने गई तो भरत बोले- "सुन्दरी ! तुम्हारा यह सुकुमार शरीर और साधु जीवन का कठोर मार्ग? क्या मोम के दाँतों से लोहे के चने चबाये जा सकेंगे? रुई के पाँवों से अंगारों पर कैसे चला जायेगा?"

"भाई ! मुझे संसार के सुख नहीं चाहिए। इन भोग-विलासों में मुझे पीडा अनुभव होती है, मेरा मन उद्विग्न हो रहा है। मैं चाहती हूँ, जल्दी-से-जल्दी संयम के शाश्वत, सुखमय मार्ग पर चलकर जीवन का कल्याण करूँ।

"सुन्दरी ! आत्म-कल्याण तो मुझे भी करना है, पर अभी तो समूचा जीवन पडा है। मै योग और वैराग्य का निषेध नहीं करता, पर जीवन मे सब कार्य समय पर और क्रमश होने चाहिए। असमय में किया गया सुन्दर कार्य भी अशोभनीय हो जाता है। तुम्हारा सुकुमार शरीर, तुम्हारा लावण्य युक्त यौवन अभी भोग के योग्य है"....... कहते -कहते भरत की वाणी रुक गई। शायद वह और भी कुछ कहना चाहते थे, पर सुन्दरी की स्नेहिल आँखों मे सहसा एक तीव्र अनादर और घृणा के भाव उमड आए। सुन्दरी सहसा चौकी, उसे अनुभव हुआ, अब तक की युगल परम्परा के अनुसार भरत का मन सुन्दरी के सौन्दर्य को पत्नी रूप में पाकर उसका उन्मुक्त उपभोग करना चाहता है। इस आशंका से ही सुन्दरी का हृदय सिहर उठा, आँखें डबडबा आई। सौन्दर्य सदा सुखदायी नहीं, दुखदायी भी हो जाता है, यौवन मधुर ही नहीं, कटु भी हो जाता है, सुन्दरी को पहली बार यह अनुभव होने लगा।

भरत सुन्दरी की उदासी समझ गए। पर 'समय' इस उदासी को हँसी-खुशी में बदल देगा, यह सोचकर भरत ने परिचारिकाओं से सुन्दरी की विशेष देखभाल करने को कहा और दिग्-विजय करने के लिए सेना के साथ प्रस्थान कर दिया।

भाई भरत दिग्विजय को चले गये, परिवार मे अब सुन्दरी पर आज्ञा चलानेवाला कोई ज्येष्ठ नही था। सुन्दरी एक प्रकार से स्वतन्त्र थी। आजादी का उपयोग उसने भोग के लिए नहीं, किन्तु आत्म-साधना के लिए किया। उसने संकल्प किया- जो सुन्दरता मेरी साधना और आत्म-स्वतन्त्रता में बाधक है, ऐसी सुन्दरता से भी क्या लाभ? शरीर तो धर्म का साधन है, स्वास्थ्य और सौन्दर्य यदि धर्म साधना को पंगु बनाने लगे तो

बुद्धिमान उस स्वास्थ्य और सौन्दर्य की परवाह नहीं करता। सुन्दरी ने दूध, दही, घी, मिष्ठान्न आदि पौष्टिक पदार्थों का त्याग कर दिया। वह निरन्तर आयबिल तप करने लगी। शरीर की ममता से रहित होकर तप साधना मे जुट गई।

साठ हजार वर्ष तक दिग्विजय यात्रा करते हुए छह खण्ड पर अपनी विजय ध्वजा फहराकर राजा भरत इस भरतखण्ड के पहले चक्रवर्ती बने। विजय यात्रा से लौटने पर भरत का अयोध्या मे विजयोत्सव मनाया गया। मंगल गीत गाये गये और नगर की कुमारियो एव कुलवधुओ ने भरत को विजयतिलक करके बधाया। कुमारियो के झुण्ड मे सुन्दरी को नहीं देखकर भरत चिंतित हो गए। वे शीघ्र ही स्वागत समारोह से निपट कर सीधे राजमहलो मे आए। परिचारिकाओ से पूछा-"सुन्दरी कहाँ है?"

"महाराज ! कब से वे तो महलो मे ही है, पता नहीं उन्हे क्या हो रहा है?" विनम्र किन्तु दुखी स्वर मे परिचारिका ने कहा।

भरत जैसे ही महल मे पहुँचे और सामने शय्या कक्ष मे एक दुर्बल अस्थिपंजर को श्वेत कपडो मे लिपटा देखा तो अवाक् से रह गये। सिर चकराने लगा, आँखे फटी-सी रह गई। "सुन्दरी ! तुम्हारा यह क्या हाल हुआ? लगता है शरीर मे रक्त और मांस का तो कहीं नाम-निशान भी नहीं रहा। मात्र हड्डियो का ढाँचा रह गया है, यह क्या हो गया तुम्हे?"

"भाई ! हुआ कुछ नहीं ! मैने तो किया है? जो शरीर, जो सुन्दरता किसी के मोह, मूढता एवं विनाश का कारण बने, वह शरीर और वह सुन्दरता किस काम की !" धीमे स्वर मे सुन्दरी ने उत्तर दिया और आँखे नीची झुका लीं।

भरत देख रहे थे- सुन्दरी की आँखो मे एक क्षीणज्योति टिमटिमा रही थी, जैसे किसी बुझते हुए दीपक की कांपती हुई लौ हो। परिचारिका की ओर देखकर भरत रोष के साथ बोले- "तुम सब क्या कर रही थी? मैने सुन्दरी की जिम्मेदारी तुम्हे संभलाई और तुमने इसकी कोई संभाल नहीं रखी ! लगता है मेरे पीछे तुमने इसकी उचित सेवा नही की। इसकी अवमानना हुई है।"

"महाराज ! अविनय माफ हो ! जब से श्रीमान् विजययात्रा पर पधारे है, राजकुमारी आयबिल-तप कर रही है। लाख समझाने-बुझाने पर भी हमारी एक नहीं सुनी।"

बात काटते हुए बीच ही मे सुन्दरी बोल पडी "भाई ! इसमे किसी का दोष नही, मैने

स्वयं ही अपने शरीर को क्षीण किया है। आपने मुझे संयम लेने से रोका तो मैने महल मे ही अपनी साधना शुरू कर दी। मेरा देह-सौन्दर्य मुर्झा गया तो क्या हुआ, आत्मा का अमर सौन्दर्य भीतर खिलता-सा लग रहा है।''

भरत सुन्दरी के मुख पर दमकती अन्तर सौन्दर्य की निर्मल आभा देखकर स्तब्ध रह गए। उन्हें लगा-सचमुच जब मन विरक्त हो जाता है तो राजभवन भी तपोवन बन जाता है, साधना और वैराग्य का कोई समय नहीं, कोई आयु नहीं। जब भी मन में विरक्ति जगी, तभी योग लिया जा सकता है। जिसका मन विषयों से विरक्त हो गया, उसे चक्रवर्ती के भोग और ऐश्वर्य मिट्टी से भी तुच्छ लगते है। भरत का हृदय बदल गया। सुन्दरी के हजार-हजार बोल भरत को जो बात नहीं समझा सके, वह उसकी मूकसाधना ने प्रथम-दर्शन मे ही समझा दी।

''बहन ! क्षमा करो ! मेरा मन भ्रांत हो गया था, मैंने तुम्हे संयम साधना के पथ से रोकने की धृष्टता की, तुम्हारी तपोमय आत्मा का अपमान किया ! चलो, तुम भगवान् आदिनाथ के चरणों मे, मै स्वयं तुम्हारी दीक्षा के लिए प्रार्थना करूँगा।''

सुन्दरी का सत्याग्रह सफल हुआ। उसकी ऑखें अपूर्व उत्साह से चमक उठीं। शरीर में जैसे बिजली दौड गई। वह शीघ्र ही तैयार हुई। चक्रवर्ती भरत ने पूरे राजकीय समारोह के साथ सुन्दरी का दीक्षा महोत्सव मनाया। भगवान् आदिनाथ के चरणो में दीक्षा लेकर महासती सुन्दरी भगवती ब्राह्मी के निकट रहकर ज्ञान, दर्शन एवं चारित्र की साधना मे जुट गई।

छह खण्ड विजय कर लेने के बाद भरत ने बाहुबलि आदि अपने निन्यान्वे भाइयों को भी अधीनता स्वीकार कर स्वय को चक्रवर्ती मानने के लिए विवश किया। भाई से विग्रह न किया जाय- इसलिए अठानवे भाई राज्य त्यागकर दीक्षित हुए और आत्म-साधना मे लग गए। परन्तु महाबली वाहुवली को भरत का प्रस्ताव स्वीकार नहीं हुआ। परिणामत भाई-भाई में भयंकर युद्ध हुआ। भरत का वाहुवली के अपार वल के समक्ष जीतना मुश्किल हो गया। भरत ने भाई का सिर काटने के लिए चक्र फेंका, वाहुवली ने भरत को जीते जी भूमिसात् करने के लिए मुट्ठी उठाई। इस भयंकर परिस्थिति में देवों ने वाहुवली को शान्त किया। वाहुवली की मुट्ठी ऊपर उठी-की उठी रह गई। वाहुवली राज्य त्यागकर युद्ध क्षेत्र से मुड गए और एकान्त निर्जन वन मे जाकर ध्यान

मे लीन हो गए।

ध्यानस्थ बाहुवली के मन मे संकल्प उठा- "व्यवहार के अनुसार मुझे भी प्रभु आदिनाथ के चरणो मे चलना चाहिए।" किन्तु दूसरे ही क्षण एक विकल्प उनके मन को झकझोर गया- "वहाँ तो मेरे छोटे भाई भी है, जो साधु बन चुके है। मै उनके चरणो मे अपना विजयोन्नत मस्तक कैसे झुकाऊँगा ? चलो यहीं खडा-खडा तपस्या करूँगा।" और बाहुवली भुजाएँ लबी कर गिरिराज सुमेरू की तरह अचल खडे हो गए। बाहुबली मन के तुच्छ अहकार के सामने हार गए। बडप्पन की क्षुद्र भावना ने बेडी की तरह बाहुवली जैसे महावली को भी बाँध लिया।

भूखे-प्यासे खडे-खडे बारह मास बीत गए। वर्षा, आधी और तूफान मे पर्वत की भाँति अडोल खडे रहे। उनकी जटाएँ वड की तरह नीची झुककर भूमि पर छितरा गई थी और उन पर पक्षियो ने घोसले बना लिए थे।

एक दिन भगवती ब्राह्मी और सुन्दरी ने परमप्रभु से भाई बाहुवली की साधना के विषय मे पूछा। करुणावतार प्रभु ने बताया- "कठोर साधना करते-करते बारह मास बीत गए, पर एक क्षुद्र अहंकार के कारण बाहुवली की साधना सिद्धि के द्वार पर अटक गई है। उसके मन मे एक अहकार है- मै छोटे भाइयो को वदना कैसे करूँ? बस, इस अभिमान के हाथी पर चढा वह आज तक रुका खडा है।"

प्रभु की आज्ञा लेकर ब्राह्मी और सुन्दरी उस जगल मे पहुँची, जिसका कण-कण वाहुवली की तप साधना के प्रभाव से जगल के हिसक पशु भी वैर-विरोध भूलकर परस्पर प्रीति और स्नेह के साथ रह रहे थे। वहनो ने भाई को सुमेरू की तरह अचल तप मे लीन खडा देखकर एकवार श्रद्धा के साथ मस्तक झुकाया और फिर मधुर स्वर मे गाने लगी-

वीरा म्हांरा, गज थकी ऊतरो,
गज चढयां केवल न होसी रे !

एक परिचित-सा मधुर स्वर बाहुवली के कानो से टकराया। हवा मे दूर-दूर तक पर्वतमालाओ से टकराकर उसकी प्रतिध्वनि गूँज रही थी। बाहुबली चौके- "ओह ! यह तो मेरी बहनो का स्वर है? वे इस जगल मे और मुझे पुकार रही है? और मै तो साधु बनकर कव से ध्यान लगाए खडा हूँ, यहाँ कहाँ ?" सोचते-सोचते बाहुबली की विचार धारा ने मोड खाया, अन्तर की ओर मुडी, मोह का पर्दा हटा, विकल्पो के बधन टूटे- "ओह मै

तो बड़प्पन रूपी अहंकार के मतवाले हाथी पर बैठा हूँ। राज्य त्याग दिया और इतना-सा अहंकार नहीं त्याग सका? चलूँ, अभी चलकर प्रभु के चरणों में अपने अहंकार को पछाड़ कर दीक्षा-ज्येष्ठ बंधुओं को नमस्कार करने !'' बाहुबली का दक्षिण चरण जैसे ही विनम्रता के साथ झुका हुआ आगे बढा तो आकाशमंडल में देवदुन्दुभि गूँज उठी- ''बाहुबली सर्वज्ञ सर्वदर्शी बन गए, साधना से सिद्धि प्राप्त कर ली'' देवताओ ने आकाश से पुष्प वर्षा की और बहनों ने केवल ज्ञान प्राप्त किए भाई का सर्वप्रथम अभिवादन किया।

सुन्दरी ने इस युग की आदि में अपने सत्संकल्पो की सिद्धि के लिए सर्वथा अहिंसक-सत्याग्रह का सविनय प्रयोग कर भरत चक्रवर्ती का हृदय बदला। अहकार-ग्रस्त बधु बाहुबली को उद्‌बोधन देकर उसके अंतर चक्षु खोले। स्वयं की आत्मसाधना के साथ-साथ लोककल्याण की पावन भावना से परिपूरित, आत्म-सौदर्य की अमर उपासिका वैराग्यमूर्ति सुन्दरी मुक्तिगामी बनी।



3. दृढ़व्रती सेठ सुदर्शन

चम्पा नगरी में ऋषभदास सेठ और उनकी धर्मपत्नी अर्हद्दासी निवास करते थे। उनके पुत्र का नाम सुदर्शन था। सुदर्शन अपने नाम के अनुसार देखने मे सुन्दर और नाना गुणों से युक्त था। युवा अवस्था प्राप्त होने पर उसकी सुंदरता और आकर्षण में अधिक वृद्धि हुई। कामदेव के समान मनोहारी सुदर्शन युवक को देखकर नगर की अनेक युवतियाँ उस पर मोहासक्त थी। किन्तु सुदर्शन अनेक गुणों के साथ-साथ सदाचरण और नीति का भी धारक था। अतः वह अपना जीवन संयमपूर्वक व्यतीत करता था।

सुदर्शन का एक घनिष्ठ मित्र था, कपिल। दोनो का एक दूसरे के घर आना-जाना था। कुछ समय बाद कपिल का विवाह कपिला नामक ब्राह्मण कन्या से हुआ और सुदर्शन का विवाह एक सेठ की पुत्री मनोरमा के साथ सम्पन्न हुआ।

दोनों युगल सुखपूर्वक अपना जीवन व्यतीत करने लगे। एक दिन सेठ सुदर्शन किसी कार्य से अपने मित्र कपिल के यहाँ गया। कपिल कहीं बाहर गया हुआ था। उसकी पत्नी कपिला अकेले मे सुदर्शन को देखकर उस पर आसक्त हो गई। उसने अपनी काम-

भावना की पूर्ति के लिए सुदर्शन से अनुरोध किया। सुदर्शन ने उसे बहुत समझाया। किन्तु वह अपनी वासनामय दृष्टि से विरक्त नहीं हुई और सुदर्शन पर सभी तरह से जोर डालने लगी। तब संयमी सुदर्शन किसी प्रकार अपने नपुसक होने का बहाना करके वहाँ से बच कर आ गया। कपिला अपनी असफलता पर मन मसोस कर रह गई।

थोडे दिनो बाद वसंत ऋतु का आगमन हुआ। उसका उत्सव मनाने के लिए चम्पा नगरी का राजा दधिवाहन ओर उसकी रानी अभया अपने प्रजाजनो के साथ एक उपवन मे एकत्र हुए। इस उत्सव मे रानी अभया ने सुदर्शन की पत्नी मनोरमा की प्रशंसा की और उसके पुत्र को भी दुलार किया। इस बात को देखकर कपिला ब्राह्मणी जल-भुन गई। उसने रानी के कान मे गुप्त रूप से कहा- ''यह पुत्र सुदर्शन का कैसे हो सकता है? क्योकि वह तो नपुसक है। उसने इसी कारण से मेरी प्रेम याचना को ठुकरा दिया था।'' तब अभया रानी ने कपिला की हॅसी उडाते हुए कहा- ''कपिला ! तुम भोली हो। अब देखना सेठ सुदर्शन को मै अपने जाल मे कैसे फॅसाती हूँ।''

बसन्त उत्सव से लौटने के बाद, अभया रानी ने अपनी पंडिता नामक एक दूती से, सेठ सुदर्शन को अपने महल मे किसी प्रकार ले आने को कहा। दूती पंडिता को जब किसी सीधे उपाय से दृढव्रती सुदर्शन को फुसलाना सम्भव नहीं लगा, तो वह अष्टमी के दिन पौषधशाला मे ध्यान मे लीन सुदर्शन को उठाकर रानी के महल मे ले आई।

अभया रानी के शयनागार मे जब सुदर्शन को पहुॅचा दिया गया तो रानी ने उसे अपनी मनोकामना पूरी करने के लिए प्रेरित किया। सुदर्शन ने रानी को 'शीलव्रत' का महत्व समझाया किन्तु इसका अभया पर कोई प्रभाव नहीं पडा। उसने सुदर्शन को तरह-तरह से प्रलोभन दिए और भय उपस्थित किए, किन्तु सुदर्शन अपने शीलव्रत से लेशमात्र भी विचलित नहीं हुए।

अपने मायाजाल मे असफल होकर रानी अभया ने दूसरा प्रपच रच दिया। उसने अपने शरीर को स्वयं नाखूनों से क्षत-विक्षत कर डाला और अपने वस्त्र अस्त-व्यस्त कर राजा को यह सूचना पहुॅचा दी कि सेठ सुदर्शन ने बलपूर्वक रनिवास मे प्रवेश करके उसका शील-भंग करने का प्रयत्न किया है। राजा ने आवेश मे आकर सुदर्शन को प्राण-दण्ड देने का आदेश दे दिया।

सेठ सुदर्शन को जब प्राण-दण्ड देने के लिए शूली पर चढाने ले जाया जा रहा था,

दृष्टि से सब कुछ जान लिया। उन्होंने कपिल के कार्य को अनुचित बताया तथा भर्त्सना की।

दिन बीतते गए जन महोत्सव का समय निकट आया उस दिन सभी स्त्रियाँ स्वर्णहार कंगन पायल, केशरिया परिधान आदि से श्रृंगारित होकर महोत्सव में भाग लेती हैं। दासी पुत्री उदास होकर बोली "प्राणेश ! उत्सव पर सखियों के साथ जाने, गोष्ठी करने आदि के योग्य द्रव्य मेरे पास नहीं है। मैं कैसे उनमें सम्मिलित हो सकती हूँ। सुंदर परिधान एवं सुंदर श्रृंगार भी नहीं है। पड़ौसिने मेरी निर्धनता पर व्यंग्य करती है। सखियाँ मुझ पर हँसती है। मै इस अभाव, अपमान और तिरस्कार के बीच महोत्सव कैसे मनाऊँ ?'

वास्तव में कपिल के पास अपनी सह धर्मिणी को देने के लिये कुछ भी नहीं था। उसकी आजीविका भी मुश्किल से चल पाती थी, उदासीनता एवं दुख ने उसके हृदय में स्थान बना लिया।

दासी पुत्री ने कहा- "स्वामी ! एक उपाय है। इस नगर में धनदत्त नाम के श्रेष्ठी रहते हैं जो ब्राह्मण पुरुष, उनके द्वार पर प्रातःकाल सबसे पहले दान ग्रहणार्थ पहुँचता है, उसे वे दो माशा स्वर्ण दान करते हैं। आपको वहाँ जाना चाहिए।"

कपिल के चेहरे पर प्रसन्नता छा गई। उसने कहा- "तुम निश्चिंत रहो यह कार्य मै अवश्य करूँगा।" कपिल स्वर्ण पाने की लालसा में आधी रात को निकल पडा। मार्ग मे नगर रक्षकों ने उसे चोर समझकर पकडा तथा प्रात.काल राजा प्रसेनजित के सम्मुख खडा किया।

राजा ने कपिल को उसका परिचय तथा रात्रि गमन का कारण पूछा। कपिल ने निश्छल, निर्भय, प्रशांत भाव से सारा वृतान्त ज्यो-का-त्यों सुना दिया। राजा, निर्धन कपिल की सरलता एवं स्पष्ट वादिता पर मुग्ध हो गया। प्रसेनजित ने कहा- कपिल मैं तुम्हे मुक्त करता हूँ। तुम दो माशा स्वर्णदान पाने निकले हो, मैं तुमसे प्रसन्न हूँ, बोलो तुम्हे क्या चाहिए? तुम जो कुछ मांगोगे मिलेगा।"

यह सुनकर कपिल विचारने लगा- "मैने, श्रेष्ठी से दो माशा सोना पाने की अभीप्सा से ही तो अर्द्धरात्रि में वहिर्गमन किया है क्यो न मैं वही दो माशा सोना राजा से माँग लूँ ! परन्तु तभी विचार आया कि जब राजा से माँगना ही है, तो इतना-सा ही क्यो माँगू ! राजा ने कहा है कि जो माँगोगे, तुम्हें वही मिलेगा तो क्यों न मैं सो मोहरें माँग लूँ, ताकि नित्य

की दौड़-धूप, दान-दक्षिणा से मुक्ति मिल जाए। हठात् उसे सौ मोहरे भी तुच्छ लगने लगीं। दारिद्र्य के अन्धकार को मिटाने के लिए उसे अधिक धन का प्रकाश अपेक्षित था। उसके मन मे इच्छा हुई कि हजार मोहरें माँग लूँ। उसका लोभ जंगली घास की तरह अभिवर्द्धित होता ही रहा। अगले क्षण जब हजार मोहरे भी अल्प लगने लगी, तब उसने लाख, करोड मोहरें माँगने का सोचा। तत्पश्चात् भी उसकी माँग और चाह का भिक्षापात्र नहीं भरा और वह खाली ही रहा। उसके मन मे एक ही तृषा थी, कुछ और ! कुछ और !! कुछ और !!! लाख और करोड स्वर्णमुद्रा प्राप्त होने पर तो मै केवल लखपति और करोडपति ही हो पाऊँगा। क्या ऐसी भी कोई वस्तु है जिसे पाने के बाद करोड़पति भी उसके अधीन हो जाए। सहसा उसे ध्यान आया कि ऐसी वस्तु यह राज्य है। जब महाराज मनवांछित वस्तु देने के लिए तैयार है, तो मै यह सारा राज्य ही क्यो न माँग लूँ !

प्रसेनजित के सम्बोधन ने कपिल की तीव्रगामी विचार-धारा को हठात् रोक दिया। उन्होने पुन: पूछा, ''कपिल ! तुमने क्या माँगने का सोचा है, बोलो?''

कपिल कहने ही जा रहा था कि ''आपका समस्त राज्य'', परन्तु तत्क्षण उसका कण्ठ अवरुद्ध हो गया। 'अरे ! मै क्या माँगने जा रहा हूँ? राजा से उसका राज्य? क्या स्वर्गस्थ महापण्डित काश्यप का पुत्र कपिल इतना अधम है? मेरा लोभ कहाँ-से कहाँ बढ़ गया ! दो माशा स्वर्ण का याचक कपिल समस्त राज्य की याचना करने जा रहा है। धिक् ! धिक् !! धिक् !!!'

कपिल ने आत्म-जागरण को प्राप्त किया। उसके सामने जीवन के एक-एक दृश्य उपस्थित होने लगे। माँ ने मुझे किन-किन आशाओं के साथ श्रावस्ती भेजा था, किन्तु मैं उन्हे फलीभूत करने मे असफल रहा। दासीपुत्री के प्रेम-पाश में आसक्त होकर मैं उद्देश्य-पतित और लक्ष्यच्युत हो गया। क्या मेरा यही पुत्रत्व है? कहाँ माँ का प्रेम, कहाँ पत्नी का प्रेम ! दोनो मे कितना अतर है, माँ ने ओढरदानी की तरह मुझ पर वात्सल्य और प्रेम उडेला है, जबकि पत्नी प्रतिदान के बदले में प्रेमदान करती है। आज उसकी दो माशे स्वर्ण की माँग है, कल और अधिक की माँग होगी। इच्छाओं के आगे तो स्वयं सम्राट भी भिखारी हो जाता है तो उसकी इच्छा/माँग का पात्र क्या कभी आपूर्ण भर पाएगा? ओह ! मैने माँ के विश्वास को ठुकरा दिया। आचार्य की भर्त्सना से भी मैं सचेत न हो पाया। क्या मेरा यही शिष्यत्व है? आचार्य मुझे कितने वात्सल्य से शिक्षा-प्रदान करते

थे? लेकिन मैंने उनके अनुग्रह का आदर नहीं किया। मैं उनकी ज्ञान-गगा से घूंट-भर जल भी ग्रहण न कर सका। मुझे धिक्कार है, जो मैं मन के पाश मे उलझकर विपथगामी हो गया।

कपिल के मन-सिन्धु पर तरंगित वैचारिक तरंगें क्षणभर के लिए शान्त हो गई। उसके आत्म-चक्षु का दिव्य द्वार खुल गया। उसके विचारों ने सहसा ऐसा मोड लिया कि लोभ की पराकाष्ठा अलोभ में रूपान्तरित हो गई।

कपिल विचारने लगा, 'मैं आकांक्षा के वशीभूत होकर कहॉ से कहॉ चला गया। दो माशे सुवर्ण का आकांक्षी क्या समस्त राज्य को पाकर सुखी हो पाएगा? नहीं एक आकांक्षा के बीज से अनगिनत आकांक्षाएँ फलित होती हैं। अत. क्यो न प्रथम आकांक्षा को ही जड़ से उखाड फेंकूँ। आखिर, आकांक्षा तो दुष्पूर और दु खो की जननी है। यदि आकांक्षा निष्कांक्षा में बदल जाए तो वह सुखोपलब्धि होगी, जिसकी कोई परिसीमा नहीं है।

प्रसेनजित ने अपना प्रश्न दोहराया, "बताओ ! तुम्हे क्या चाहिए ?"

प्रसेनजित ने देखा, कपिल के जिस मुख-मण्डल पर पहले परेशानी की रेखाएँ परिलक्षित हो रही थीं, किंतु अब वह प्रशांत था। उसके भालस्थल पर आकर्पक और विलक्षण चमक थी।

प्रसेनजित के पुन प्रश्न करने पर कपिल ने शान्त स्वरो मे केवल इतना ही कहा, "क्षमा करें राजन् ! मुझे कुछ नहीं चाहिए।"

प्रसेनजित कपिल की ओर अवाक्- से देखते ही रह गए। बोले, " तुम क्या कह रहे हो, तुम्हे कुछ नहीं चाहिए?"

"हॉ ! राजन् ! मुझे कुछ भी नहीं चाहिए" यह कहते हुए कपिल ने अपने प्रत्युत्तर का पुनरावर्तन किया।'

कपिल वोला, "राजन् ! मुझे जो पाना था, मैंने पा लिया है। अव आप से कुछ लेने की मेरी कोई अभिलापा नहीं है। आपके समस्त वैभव-साधन भी मुझे तृप्त नहीं कर पाए, परन्तु उनकी अनाकांक्षा ने मेरा पथ प्रशस्त कर दिया है। राजन् ! जैसे-जैसे लाभ होता है, वैसे-वैसे लोभ वढता है। लाभ से लोभ वढता जाता है। मैं दो माशे सोने की प्राप्ति के

काव्य विभाग

1. परमात्म बत्तीसी

मैत्री सकल-जग-जीव से, आनन्द गुणियों में रहे,
जो कष्ट पीड़ित जीव, करुणा-स्त्रोत उनके हित बहे।
विपरीत पथ पर चरण रख, जो नर यहां हैं चल रहे,
हे नाथ ! मेरी आत्मा, मध्यस्थ उनके प्रति रहे ॥1॥

है भिन्न आत्मा देह से, जो अमित शक्ति निधान है,
सब दोष से उन्मुक्त जिसका, सहज रूप महान् है।
जो म्यान से तलवार को, हम पृथक करते हैं सदा,
हे जिन ! तुम्हारी पा कृपा, वह आत्म बल पाए सदा ॥2॥

हो दुःख या सुख शत्रु, अथवा बन्धु का सहवास हो,
संयोग या कि वियोग हो, घर या अरण्य निवास हो।
ममता भरी जो भावना, वह सर्वथा ही दूर हो,
हे नाथ ! सबके प्रति सदा, सम मन मेरा भरपूर हो ॥3॥

अज्ञान तम को दूर करने में, तेरे दीपक-चरण,
मेरे हृदय का हो सदा, बस एक मात्र वही शरण।
होवे बसे या लीन हो, या कीलवत् दिल में गडे,
प्रतिविम्ब सम हे मुनि शिरोमणि ! वे हृदय में हों पड़े ॥4॥

प्रतिक्रमण (प्रभु समीपे स्वात्म चिंतन)

भ्रमवश यहां चलते हुए, एकेन्द्रियादिक जीव-तन,
टुकड़े किए या नष्ट उनको, हन्त ! वेपरवाह मन।
हों धूल में उनको मिलाया क्लिष्ट पीड़ा या दिए,
मिथ्या बनें वे दोष सब, हे देव ! हमने जो किए ॥5॥

मुक्ति पथ प्रतिकूल गामी, मैं महा मति मंद हो,
इन्द्रिय कषायों के विवश, या दुष्टधि होकर अहो।
चारित-शुचिता का विलोपन, जो यहॉ हमसे हुआ,
मिथ्या बने वह हे प्रभो ! दुष्कर्म जो हमने किया ॥6॥

इस देह या मन, वचन से, या दुष्ट भाव कषाय से,
भव दु:ख कारण पाप को, त्यागूॅ सदा सदुपाय से।
जैसे भिषग् निज मंत्र से, करता सकल विष का हरण,
आलोचना गर्हा विनिन्दन, त्यों किए हमने वरण ॥7॥

होकर विमति वश जो किया, अतिचार निर्मल नियम का,
अतिक्रम, व्यतिक्रम, भूलवश , विपरीत सेवन धर्म का।
उनके विशोधन के लिए, मैं आज निर्मल भाव से,
हूँ लौटता उन कलुष भावो, के महान् पडाव से ॥8॥

जो क्षति करे मन शुद्धि, में अतिक्रम उसे ही है कहा,
स्वीकृत नियम प्रतिकूल मति, व्यतिक्रम कहाता है महा।
वैषयिक सुख मन रमण, माना गया अतिचार है,
तल्लीन होना विषय में, मति भूल है नाचार है ॥9॥

भ्रमवश अगर बोला यहां, कुछ भी अगर मै हूॅ वचन,
पद, वाक्य, मात्रा, अर्थ, हीनाक्षर हुए जो भी कथन।
अपराध मेरा कर क्षमा, मॉ भारती ! ऐसा करें,
कैवल्य से यह हृदय भर, अज्ञान-तम मेरा हरें ॥10॥

हो लाभ बोधि, समाधि फिर, परिणाम भी निर्मल रहे,
शिव सोख्य के संग आत्म की, उपलब्धियॉ होती रहें।
दे देवि ! तेरी वंदना से, हो अभीप्सित सिद्धियॉ,
चिन्ता-हरण-मणि ध्यान से, मिलती हैं जैसे ऋद्धियॉ ॥11॥

जो संस्मरण में आ रहे, मुनिवृन्द के द्वारा यहाँ,
होती है जिनकी प्रार्थना, नर देव सुरपति के यहाँ।
हैं वेद, शास्त्र, पुराण जिन का, नित्य गीत सुना रहे,
वह देव का भी देव मेरे, हृदय में आकर रहे ॥12॥

जो ज्ञान दर्शन सुख स्वभावों, से विमल मतिमान है,
जो बाह्य जग के विकृत भावों, से अलग द्युतिमान है।
परमात्मा वह प्राप्य है, पुरुषार्थ और समाधि से,
वह देव का भी देव मेरे, हृदय में आकर बसे ॥13॥

संसार के दुःख जाल को, जो नाश करता है सदा,
तीनों भुवन के जीव पर जो, दृष्टि रखता है सर्वदा।
अन्तर्हृदय में योगि जन, करते निरीक्षण हैं जिसे,
वह देव का भी देव मेरे, हृदय में आकर बसे ॥14॥

जो मोक्ष पथ का कथन करता, भाग्य धाता है बड़ा,
जो जन्म् एवं मरण से, है सर्वथा बाहर खडा।
जो अतनु, तीनों लोक दृष्टा, दूर नित्य कलंक से,
वह देव का भी देव मेरे, हृदय में आकर बसे ॥15॥

संसार के सब जीव जिसके, हैं नियन्त्रण में चले,
रागादि सारे दोष वे, जिससे सदा रहते टले।
इन्द्रिय रहित वह ज्ञानमय है, दूर सर्व अपाय से,
वह देव का भी देव मेरे, हृदय में आकर रहे ॥16॥



2. संघ समर्पणा गीत

(1) सघ हमारा अविचल मंगल,नन्दन-वन, सा महक रहा।
हम सब इसके फूल व कलियाँ, सुन्दरतम निज संघ अहा॥
(2) वीर प्रभु के उपदेशो ने, सघ की महिमा गाई है।
सुर नर वन्दन करे सघ को, सघ साधना भाई है॥
(3) संघ समष्टि का हित करता, व्यष्टि उसमें शामिल है।
संघ हेतु निज स्वार्थ तजे जो, वही प्रशसा काबिल है॥
(4) व्यक्तिवाद विद्वेष बढाता, सघवाद दे प्रेम सदा।
व्यक्ति भाव को छोड समर्पण, संघभाव मे रहे सदा।
(5) व्यक्ति अकेला निर्बल होता, संघ सबल होता माने।
संघे शक्ति कलौ-युगे की, सत्य भावना पहचाने।
(6) एक सूत्र कोई भी तोड़े, रस्सी हस्ती को बांधे।
एक-एक मिल बना संघ यह, दुस्संभव को भी साधे॥
(7) संघ श्रेय में आत्म श्रेय है, ऐसा दृढ विश्वास मेरा।
सघ मे मुझमे भेद न कोई, बोल रहा हर श्वास मेरा॥
(8) सघ परम उपकारी हमको, संघ ने सम्यक बोध दिया।
संघ ना होता हम क्या होते, सघ ने हमको गोद लिया॥
(9) शैशव, यौवन, वृद्धावस्था, सदा संघ उपकारी है।
भवसागर से तारण हारा,हम इसके आभारी है॥
(10) नगर चक्र, रथ, पदम, चंद्र, रवि, सागर, मेरू की उपमा।
सूत्र नन्दी मे संघ गौरव की, क्या कोई है कम महिमा॥
(11) प्रेम सूत्र से बंधा संघ है, हिलमिल आगे बढते है।
निन्दा विकथा तज गुणीजन के, गुणगण मन मे धरते है॥
(12) दूर हटा छल, छद्म,अहम् को, सरल, सहज, सद्भाव बढे।
संघ हित हेतु तज निज इच्छा, सरल सुकोमल भाव वरें।
(13) नाम अमर है उन वीरो का, जिनने सघ सेवाधारी।
अपना कुछ ना सोच किया, सर्वस्व संघ पर बलिहारी॥

(14) यही प्रार्थना वीर प्रभु से.ऐसी शक्ति दो मुझको।
संघ सेवा में झोकें जीवन, ओर न कुछ सुझे हमको॥

(15) संघ हेतु कुर्बान हमारा. तन मन जीवन सारा है।
संघ हमारा ईश्वर हमको, संघ प्राण से प्यारा है॥

(16) चमड़ी कागज, खून की स्याही, अस्थि लेखनी लेकर के।
रचे भले संघ गौरव गाथा, उऋण न हो उपकारों से॥

(17) अरिहंत सिद्ध सुदेव हमारे, गुरू निर्गंथ मुनीश्वर है।
जिन भाषित सद्धर्म दयामय, नित्य यही अन्तर स्वर है॥

(18) सद्गुरु आज्ञा ही प्रभु आज्ञा, इसमें भेद न कोई है।
शास्त्र-शास्त्र में जगह-जगह पर, वीर वचन भी वो ही है॥

(19) संघ नायक। संघ मालिक हम सब, साधुमार्ग अनुयायी है।
और नहीं दूजे हम कोई, बस तेरी परछाई है॥

(20) रत्नत्रय शुद्ध पालन करके, तोड़े कर्मो की कारा॥
नाना गुण का धाम संघ यह, घर-घर गूंजे यह नारा॥

(21) स्वार्थमान को त्याग संघ की सेवा जो नर करता है।
इह परलौकिक कष्ट दूर कर, सौख्य सम्पदा वरता है॥



3. रोज शाम को

रोज शाम को जीवन खाता खोलो करो विचार।

श्रावक यह तेरा आचार।

मोक्ष मार्ग मे चरण बढाए, कितने दो या चार?

करले बारम्बार विचार।

1. जो शुभ निश्चय किये सवेरे, कितने पूर्ण हुए वे तेरे?
   विघ्न देखकर घबराया या, डटकर रहा तैयार। कर ले .....

2. कितने कार्य किए पुण्यो के? कितने कार्य किए पापो के?
   देख तोल कर पुण्य-पाप का, किधर है कितना भार। कर ले .....

3 कितने अवगुण त्यागे तूने? कितने सद्गुण धारे तूंने?
   तू तू मैं मै व्यर्थ लगाकर, अथवा की तकरार। कर ले .....

4 कितना संग किया गुणियो का, कितना लाभ लिया मुनियो का?
   या खेल तमाशे ठट्टे हँसी मे, मस्त रहा बेकार। कर ले .....

5. मानव जीवन सफल बना ले, इस नर तन से लाभ उठा ले।
   लक्ष चौरासी योनि मे यह, मिले न बारम्बार। कर ले .....

6. संवर कर ले तप आदर ले, पुण्य कमा ले पाप खपा ले।
   केवल कहते 'पारस' सुन रे, यह जीवन दिन चार। कर ले .....



4. सदा हो मन में इनका ध्यान

(तर्ज - देख तेरे संसार की हाल...)

मेर प्यारे देव, गुरुवर, श्री जिन धर्म महान।
सदा हो मन में इनका ध्यान॥
इनके उपदेशों पर मेरा, जीवन हो गतिमान।
इन्हीं पर हो जाऊँ कुर्बान ॥ टेर॥

सिद्ध प्रभुवर को मैं ध्याऊं, अरिहन्तों को शीश नमाऊँ।
चौबीसी जिन जपता जाऊँ, मैं भी उनसा जिन बन जाऊँ ॥
अन्य देव नहीं मन को भाये, अरिहन्त सिद्ध ही प्राण॥
सदा हो मन में इनका ध्यान.... ॥

राम गुरु आगम के ज्ञाता, उच्च क्रिया से जिनका नाता॥
ज्ञान ध्यान तप तेज सुहाता, जन-जन के जो भाग्य विधाता॥
नाना गुरु के पाट विराजें, जिन शासन की शान॥
सदा हो मन में इनका ध्यान .... ॥

जिनवानी की महिमा भारी, जिनवानी भविजन उपकारी।
आत्म शांति की सच्ची क्यारी, विपय कपायों की हैं आरी॥
तुलना जग में नहीं है इसकी, गूंजें जय-जय गान॥
सदा हो मन में इनका ध्यान.... ॥

4. हे प्रभु पंच परमेष्ठी दयाला

(तर्ज -झण्डा उंचा रहे हमारा)

हे प्रभु पंच परमेष्ठी दयाला।
मुझमे कर दो ज्ञान उजाला ।। टेर ।।

अरिहन्त सिद्ध को शीश नमाऊँ,
आचार्य उपाध्याय के गुण गाऊँ।
मुनिवर सब ही गुण की माला ।। हे प्रभु.... ।।

इनकी भक्ति का रस पीऊँ,
व्यसन मुक्त मैं जीवन जीऊँ।
पीकर जिनवानी का प्याला ।। हे प्रभु.... ।।

अन्तर्दृष्टा मैं बन जाऊँ,
सम्यक् ज्ञान की ज्योति जगाऊँ।
शुद्धचार का ओढ दुशाला ।। हे प्रभु... ।।

झूठ अनीति को मैं छोड़ूं,
विषय वासना से मुख मोड़ूं।
समझूं इसको विष का प्याला ।। हे प्रभु ... ।।

मन वच तन के योग हो सुखकर,
जीवन को यह स्व पर हितकर।
''धर्म'' ध्यान का हो उजियाला ।। हे प्रभु.... ।।

卐

सामान्य विभाग

1. परम कल्याण के चालीस बोल

1. शुद्ध समकित पालने से जीव का परम कल्याण होता है - श्रेणिक राजा
2. निदान रहित तपस्या करने से जीव का परम कल्याण होता है - तामली तापस
3. तीन योगों को शुभ प्रवर्तायें तो जीव का परम कल्याण होता है -
गजसुकुमाल मुनि
4. समभाव सहित क्षमा करने से जीव का परम कल्याण होता है - अर्जुनमालाकार
5. पांच महाव्रत निर्मल पालें तो जीव का परम कल्याण होता है - गौतम स्वामी
6. प्रमाद छोडकर अप्रमादी होवे तो जीव का परम कल्याण होता है -शैलक राजर्षि
7. इन्द्रिय दमन करने से जीव का परम कल्याण होता है - हरिकेशी मुनि
8. मित्रो के साथ छल-कपट न करे तो जीव का परम कल्याण होता है -
मल्लिनाथ भगवान के पूर्वभव के छह मित्र
9. धर्म-चर्चा करे तो जीव का परम कल्याण होता है -केशी श्रमण गौतम स्वामी
10. सत्य धर्म पर श्रद्धा रखने से जीव का परम कल्याण होता है -
वरुण नागनतुआ का मित्र
11. जीवों पर करुणा करे तो जीव का परम कल्याण होता है -
मेघकुमार (हाथी के भव में)
12. सत्य बात निशंक कहे तो जीव का परम कल्याण होता है - आनन्द श्रावक
13. कष्ट आने पर व्रतो पर दृढ रहें तो जीव का परम कल्याण होता है - अंबड संन्यासी
14. परिग्रह की ममता छोडे तो जीव का परम कल्याण होता है - कपिल ब्राह्मण
15. शुद्ध मन से शील पाले तो जीव का परम कल्याण होता है - सुदर्शन श्रावक
16. उदार भाव से सुपात्र दान देवे तो जीव का परम कल्याण होता है - सुमुख गाथापति
17. धर्म से डिगते हुए को स्थिर करे तो जीव का परम कल्याण होता है
- राजीमति

18 उग्र तप करने से जीव का परम कल्याण होता है -धन्नामुनि

19 अग्लान भाव से वेयावृत करे तो परम कल्याण होता है -नन्दिषेण, पंथक मुनि

20 अनित्यानुप्रेक्षा करने से जीव का परम कल्याण होता हे -भरत चक्रवर्ती

21 अशुभ परिणाम रोके तो जीव का परम कल्याण होता हे -प्रसन्नचंद्र राजर्षि

22 सत्य श्रद्धान करे तो जीव का परम कल्याण होता हे - अहन्नंक श्रावक

23. चतुर्विध सघ की वेयावृत्य करने से जीव का परम कल्याण होता है-
- सनत्कुमार चक्रवर्ती (पूर्वभव)

24. उत्कृष्ट भावो से सेवा करे तो जीव का कल्याण होता हे -बाहुबली (पूर्वभव)

25 शुद्ध अभिग्रह से जीव का परम कल्याण होता हे -पॉच पांडव

26 धर्म दलाली से जीव का परम कल्याण होता हे -कृष्ण वासुदेव

27 आगम भक्ति करे तो जीव का परम कल्याण होता है - उदायन राजा

28. जीव रक्षा करे तो जीव का परम कल्याण होता है -धर्मरुचि अणगार

29. व्रतो से गिरकर पुन स्थिर होवे तो जीव का परम कल्याण होता है - अरणकमुनि

30. आपत्ति मे धैर्य रखने से जीव का परम कल्याण होता है - स्कन्धक मुनि

31 जिन भक्ति करने से जीव का परम कल्याण होता है - प्रभावती

32 प्राणो का मोह छोडकर प्राणी रक्षा करे तो जीव का परम कल्याण होता है -
- मेघरथ राजा

33 शक्ति होते हुए भी क्षमा करे तो जीव का परम कल्याण होता है -प्रदेशी राजा

34 भ्राता का मोह त्यागे तो जीव का परम कल्याण होता है -राम बलदेव

35 देव उपसर्ग सम भाव से सहे तो जीव का परम कल्याण होता है -कामदेव श्रावक

36 देव गुरु धर्म मे निर्भीक रहे तो जीव का परम कल्याण होता है - सुदर्शन श्रावक

37 वाद-विवाद मे विजय पावे तो जीव का परम कल्याण होता है - मण्डूक श्रावक

38. निमित्त पाकर शुभ भाव भावे तो जीव का परम कल्याण होता है - आर्द्रकुमार

39 एकत्व भावना से जीव का परम कल्याण होता है -नमि राजर्षि

40 विषय विजयी होने से जीव का परम कल्याण होता है -जिनपाल



समाधि स्वरूप

दशवैकालिक सूत्र के 9 वें अध्ययन के चतुर्थ उद्देश्य मे विनय समाधि का वर्णन चलता है-

अहो भगवन् समाधि क्या है ?

हे शिष्य ! आत्मा का हित होना, आत्मा को सुख शांति की प्राप्ति होना तथा आत्मा का परभावों की ओर न जाकर स्वभाव में अर्थात् ज्ञान दर्शन चारित्र रूप मोक्ष मार्ग में स्थिर हो जाना समाधि है।

अहो भगवन् ! ऐसी समाधि को प्राप्त करने के कितने कारण है ?

हे शिष्य ! ज्ञानियो ने इसके चार कारण बतलाए है -

1. विनय समाधि (विणय समाही) 2. श्रुत समाधि (सुय समाही)
3. तप समाधि (तव समाही) 4. आचार समाधि (आचार समाही)

जो जितेन्द्रिय साधक इन चार समाधि मे अपनी आत्मा को लगाये रखता है वही सच्चा पण्डित है। उक्त चार समाधि के चार-चार भेद है।

1. विनय समाधि के चार भेद :-

1. अपनी आत्मा का कल्याण चाहने वाला साधक परमोपकारी गुरु की सदा सेवा शुश्रुषा करे एवं उनकी आज्ञा को सुनने की इच्छा रखे।
2. गुरु की आज्ञा को शिरोधार्य करें।
3. फिर उसी के अनुसार आचरण करे।
4. विनयी होने का अभिमान न करे।

2. श्रुत समाधि के चार भेद :-

1. अध्ययन करने से मुझे श्रुत ज्ञान का लाभ होगा।
2. अध्ययन करने से चित्त की एकाग्रता होगी।
3. मैं अपनी आत्मा को धर्म में स्थिर करूँगा।
4. दूसरों को भी धर्म में स्थिर कर सकूँगा ऐसा समझकर भाव से अध्ययन करें।

3. तप समाधि के चार भेद :-

1. इहलौकिक भौतिक सुखो के लिए एवं किसी लब्धि की प्राप्ति के लिए तपस्या न करे।
2. परलौकिक भौतिक सुखो के लिए तपस्या न करे।
3. कीर्ति, वर्ण, शब्द और श्लाधा (पूजा-महिमा) अर्थात् पद, प्रतिष्ठा, प्रसिद्धि, प्रशसा आदि केलिए तपस्या न करे।
4. कर्म निर्जरा के अतिरिक्त और किसी भी उद्देश्य के लिए तपस्या न करे।

4. आचार समाधि के चार भेद :-

1. इहलौकिक भौतिक सुखो के लिए एवं किसी लब्धि आदि की प्राप्ति के लिएआचार का पालन न करे।
2. परलौकिक सुखो के लिए आचार का पालन न करे।
3. कीर्ति-वर्ण-शब्द और श्लाघा (अति प्रशंसा) के लिए भी आचार का पालन न करे।
4. जैन सिद्धान्त मे कहे हुए कारणो के अतिरिक्त किसी के लिए भी आचार का पालन न करे, किन्तु आते हुए आश्रवो के निरोध के लिए आचार का पालन करे क्योकि किसी प्रकार की आशा न रखकर आचार का पालन करने से ही मोक्ष की प्राप्ति होती है।

   " निर्मल चित्त वाला एवं अपनी आत्मा को सयम मे स्थिर रखने वाला 4 प्रकार की समाधियो से सम्पन्न साधक जन्म मरण से मुक्त हो जाता है । नरक आदि सब पर्यायो को सर्वथा त्याग देता है। वह या तो शाश्वत् सिद्ध हो जाता है, अथवा कुछ कर्म शेष रह जाते है तो महर्द्धिक देव होता है।



2. क्षमा

किसी व्यक्ति द्वारा मन, वचन और काया से बिना कारण ही पीडा पहुँचाने पर या गाली देने पर अथवा अभद्र व्यवहार करने पर उसके लिए प्रतिकार करने की शक्ति होने पर भी अत्यन्त शांति एवं समतापूर्वक उस कष्ट को सह लेना और किसी भी प्रकार का प्रतिकार नहीं करना 'क्षमा' है। क्रोध द्वारा उत्पन्न होने वाले कलुषित परिणामों का निग्रह करना 'क्षमा' है।

यदि कोई मनुष्य गोरा, हष्ट-पुष्ट और स्वस्थ है तथा पाँच इन्द्रियो मे केवल एक इन्द्रिय यानी चेहरे पर ऑख न हो, तो वह मनुष्य कैसा लगेगा? इसी प्रकार मानव मे भले ही अनेक गुणो का समावेश हो, किन्तु यदि क्षमा का गुण न हो, तो वह निर्गुणी ही कहलायेगा। यह संसार है और संसार व्यवहार में किसी न किसी निमित्त कड़वे शब्द बोलने मे आ ही जाते हैं, पर जो क्षमाधारी होता है, वह तत्काल या जल्द-से-जल्द क्षमा याचना कर मन-मस्तिष्क को स्वच्छ बना लेता है। मन मे यदि विरोध रखकर केवल शब्दों से क्षमा माँग भी ली जाये, तो वह वास्तविक क्षमा नहीं है। वास्तविक क्षमा तो हृदय की निष्कपटता ही है।

क्षमा के मोटे रूप से चार भेद किए जा सकते हैं .- (1) मानसिक क्षमा, (2) वाचिक क्षमा, (3) कायिक क्षमा और, (4) आत्मिक क्षमा।

(1) अकारण से पैदा हुए अपने विरोधी के प्रति मन मे बुरी भावना नहीं लाना, मानसिक क्षमा है। (2) इसी प्रकार से विरोधी के प्रति प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप में मुँह द्वारा बुरे अथवा अपमानजनक शब्द नहीं कहना, नहीं लिखना, वाचिक क्षमा है। (3) विरोधी की तुलना में अपना शरीर अधिक बलवान होने पर भी विरोधी को हानि नहीं पहुँचाना, बदला नहीं लेना ही शारीरिक क्षमा है। (4) सबसे सर्वोच्च क्षमा आत्मिक क्षमा है। विश्व के सभी प्राणियों के प्रति दया, करुणा व मैत्री भाव रखना एवं जाने-अनजाने में हुए अपराधों के प्रति स्वयं ही क्षमा-याचना करना आत्मिक क्षमा है।

'क्षमा वीरस्य भूषणम्' - क्षमा वीरों का आभूषण है। क्षमा समर्थ व्यक्ति ही कर सकता है, निर्बल नहीं। क्षमा से आत्मा में तेजस्विता, गौरव और आत्म [illegible]

होती है। क्षमा निर्मल जल के समान है, जो कि विरोधी की क्रोध रूपी अग्नि को शान्त कर देती है। क्षमा से हिंसक-से-हिंसक प्राणी भी दयावान और परोपकारी बन सकता है। क्षमा धारण करने से परिषहों, उपसर्गों और आपत्ति- विपत्ति को सहन करने की शक्ति पैदा होती है। क्षमा से शत्रुता मिटकर मित्रता की भावना पैदा होती है। क्षमा से पूर्वकृत पाप भी दूर हो जाते है।

मानव की मानवता इसी मे है कि जीवन व्यवहार मे प्रतिकूल परिस्थिति या सयोग आ जाने पर क्रोध का प्रसग पैदा हो जाए तो भी हृदय मे क्षमा भाव ही बनाये रखे। क्षमा प्रेम और सद्भाव की वर्षा करती है, जबकि क्रोध इन गुणो का नाश कर देता है। क्रोध से जीव को दुर्गति मिलती है, जबकि क्षमा से सद्गति ही मिलती है। सभी धर्मो मे क्षमा को एक उत्तम एव आदर्श गुण के रूप मे माना गया है। क्षमाधारी द्वारा क्षमा करने पर उसका महत्व घट नहीं जाता है, बल्कि और कई गुना बढ जाता है।

क्षमा आत्मा का स्वभाव है। आत्म-शान्ति के लिये सबसे महत्वपूर्ण बात है- कषायो (क्रोध, मान, माया, लोभ) की उपशान्ति। कषाय भयकर अग्नि रूप है। मनुष्य के हृदय मे कषायो के कारण बेचैनी, अकुलाहट और छटपटाहट महसूस होती है, इसे क्षमा ही शान्त कर सकती है। किसी से कलह हो गया हो, किसी को कटु-वचन कह दिया हो, किसी के दिल को ठेस पहुँचाई हो, तो उसी समय उससे क्षमा-याचना कर लेनी चाहिए। क्षमा एक ऐसी अद्भुत वस्तु है, जिसे देने वाला और लेने वाला दोनो सुखी हो जाते हैं।

मनुष्य की शोभा रूप से है। रूप की शोभा गुण से है, गुण की शोभा ज्ञान से है। ज्ञान की शोभा क्षमा से है। मनुष्य मे रूप है, गुण है, ज्ञान है, मगर क्षमा नहीं, तो बिना नमक का भोजन है, विना ऑख का सूरदास है। क्षमा करने की प्रवृत्ति से मनुष्य मे सहनशीलता, धीरता और गम्भीरता आती है और क्षमाधारी व्यक्ति ही संसार मे सकटो पर विजय प्राप्त कर प्रतिष्ठा, यश और कीर्ति प्राप्त कर सकता है। जिस महापुरुष के हाथ मे क्षमा रूपी शस्त्र है, उसका दुर्जन व्यक्ति कुछ भी अहित नहीं कर सकता है।

अर्जुनमाली जो कि दानव ग्रस्त था, क्षमा के बल पर ही अपने को वीतराग देवत्व रूप मे परिणित कर लिया। चण्डकोशिक जैसे विषधर सर्प ने भी भगवान् महावीर के नेत्रो मे अपने प्रति स्नेह, करुणा एवं क्षमा भावना देखकर जीवन-पर्यन्त न डॅसने का प्रण ले

लिया। भगवान महावीर की क्षमा उच्च कोटि की थी। महावीर के सामने अनार्य ग्वाला आया, कान में कीले ठोंक गया। संगम देव आया, शूलपाणी यक्ष आया, महावीर ने सबके घोर परिषह समता भाव से सहन कर सभी को क्षमा की वर्षा से तर-बतर कर दिया।

क्रोध शमन का एकमात्र उपाय क्षमा भाव है। क्रोध विजय से ही जीव क्षमा को धारण करता है। तभी तो महात्मा बुद्ध ने कहा कि - "जो उत्पन्न क्रोध को चलते रथ की तरह रोक देता है, उसे ही मै सारथी कहता हूँ। बाकी सब लोग लगाम पकड़ने वाले है।" क्रोध रूपी अग्नि को शान्त करने के लिए- क्षमा की जल धारा ही समर्थ है। क्रोध का प्रतिकार क्रोध से नहीं, क्षमा से होता है। वैर से वैर कभी शान्त नहीं होते, यह अटल सत्य है। अतः क्रोध को क्षमा से ही जीतना चाहिए।

क्षमादान का आध्यात्मिक जीवन में तो बहुत अधिक महत्व है। शत्रुओं और विरोधी के प्रति क्षमा भाव रखना, यह सर्वोत्तम दान है। जब तक क्षमा दान नहीं किया जाता, तब तक हृदय की गाँठ नहीं खुलती। हृदय की गाँठ वाला व्यक्ति संसार मे कहीं भी आदर नहीं पा सकता। जिस चीज में गाँठ होती है, उसे अच्छा नहीं मानते है। शरीर मे भी अगर गाँठ होती है, तो डॉक्टर द्वारा ऑपरेशन करके उसे निकाल देने पर कितनी शान्ति और चैन मिलता है। जब शरीर की गाँठ का यह हाल है, तो मन की गाँठ का हाल तो और भी कष्टदायी होता है। मन मे जब तक गाँठ है, तब तक धर्म की आराधना नहीं हो सकती। अतः साधक को मन की गाँठ को जितनी जल्दी हो सके, उतनी जल्दी निकाल देना चाहिए।

एक नवदीक्षित मुनि थे। बाल्यकाल में दीक्षा ले ली थी। इनको भूख सहन नहीं होती थी। अष्टमी-चोदस को भी उपवास का तप नहीं कर पाते थे, किन्तु कषायों को जीतने का सदा प्रयत्न करते रहते थे। एक दिन संवत्सरी का पर्व आया। इस दिन छोटे-बड़े सभी उपवास का तप रखते हैं। सभी साथी मुनियो के उपवास का तप था, किन्तु मुनि उपवास नहीं कर सके। भिक्षाचर्या मे जो आहार मिला, उसे आचार के नाते गुरु भाई को आहार दिखाकर आज्ञा माँगी। इनके इस अतप से गुरु भाई क्रोधित हो गए और आहार पात्र में थूक दिया। वे मुनि क्षमा धारण किए हुए थे, वे शान्त रहे तथा गुरु भाई से क्षमा-याचना की और कहा कि - "मैं आपके लिये थूक पात्र नहीं ला सका, इसलिए मेरा अपराध क्षमा करें।" अब मुनि अपने आपको धिक्कारने लगे कि मैं कैसा हूँ, जो भूख [illegible]

नियन्त्रण नहीं कर पा रहा हूँ। मेरे गुरु भाई और दूसरे मुनि वृन्द कितनी तपस्या कर रहे है। भावो की तन्मयता से अपने आपको धिक्कारते हुए प्रायश्चित करते-करते मुनि को 'केवल ज्ञान' हो गया।

ऐसे अनेक दृष्टांत जैन ग्रन्थो मे भी विद्यमान है।

अत हमे अपने जीवन मे क्षमा भाव के महत्त्व को समझना चाहिए तथा अपने व्यवहारिक जीवन मे योगो से, क्रिया से, इसका उपयोग करते हुए मानव जीवन को सार्थक बनाना चाहिए।



आलोचना के सुभाषित

पान खरंतो इम कहे, सुन तरुवर वनराय।
अब के बिछड़े कब मिले, दूर पड़ेंगे जाय ॥1 ॥

तब तरुवर उत्तर दियो, सुनो पत्र इक बात।
इस घर एही रीत है, इक आवत इक जात ॥2 ॥

बरस दिनों की गॉठ को, उच्छब गाय बजाय।
मूरख नर समझे नहीं, बरस गांठ को जाय ॥3 ॥

पवन तणो विश्वास किम कारण ते दृढ़ कियो।
इनकी एही रीत, आवे के आवे नहीं ॥4 ॥

करज बिराना काढ़ के, खर्च किया बहु नाम।
जब मुद्दत पूरी हुई, देणा पड़सी दाम ॥5 ॥

बिन दियॉ छूटे नहीं, यह निश्चय कर मान।
हॅस-हॅस के क्यों खरचिये, दाम बिराना जान ॥6॥

जीव हिंसा करतां थकां, लागे मिष्ट अज्ञान।
ज्ञानी इम जाने सही, विष मिलियो पकवान ॥7 ॥

काम भोग प्यारा लगे, फल किंपाक समान।
मीठी खाज खुजावतां, पीछे दुःख की खान ॥8 ॥

जप तप संजम दोहलो, औषध कड़वी जाण।
सुख कारण पीछे घणो, निश्चय पद निरवाण ॥9 ॥

डाभ अणी जल बिन्दुवो, सुख विषयन को चाव।
भवसागर दुःख जल भरयो, यह संसार स्वभाव ॥10 ॥

चढ़ उत्तंग जहॉ से पतन, शिखर नहीं वो कूप।
जिस सुख अंदर दुख बसे, सो सुख भी दुख रूप ॥11 ॥

जब लग जिसके पुण्य का, पहुंचे नहीं करार।
तब लग उसको माफ है, अवगुण करे हजार ॥12 ॥

पुण्य क्षीण जब होत है, उदय होत है पाप।
दाझे वन की लाकड़ी, प्रजले आपो आप ॥13 ॥

श्री साधुमार्गी जैन धार्मिक परीक्षा बोर्ड, बीकानेर

जैन संस्कार पाठ्यक्रम परीक्षा, 2007

(भाग सात) पूर्णांक : 100

रोल नम्बर........ केन्द्र का नाम ....

परीक्षार्थी का नाम ....

परीक्षार्थी के पिता/पति का नाम ....

परीक्षा का दिन .... दिनांक ....

समय · 3 सामायिक (सामायिक की · हाँ/ ना, कितनी ....)

नोट सामायिक नहीं करने वाले परीक्षार्थी के 3 अंक कम किए जाएंगे।

---

1 शब्दार्थ लिखो – (कोई सात) 14

(अ) भयव (ब) णगीराया (स) रायरिसिम्मि

(द) अज्ज (य) चेइए (र) खगा

(ल) अट्ठ (व) पागार (श) खेम

(ह) दुग्गइ

2 रिक्त स्थानों की पूर्ति करो – 10

(अ) क्षमा .... का स्वभाव है।

(ब) क्रोध शम का एकमात्र उपाय .... भाव है।

(स) .... भावना से जीव का परम कल्याण होता है।

(द) चतुर्विध सघ की .... करने से जीव का परम कल्याण है।

(य) परिग्रह की .... छोड़े तो जीव का परम कल्याण है।

3 आहार के दोष पहचानों – 10

(अ) अच्छा स्वाद उत्पन्न करने के लिए खाद्य वस्तुओ को मिलाना।

(ब) आहार से आधाकर्मादि दोषो का सदेह होने पर उसे लेना।

(स) साधु के लिए उधार लिया हुआ आहारादि।

(द) साधुओ का आगमन सुनकर आधण मे अधिक ऊर देना।

(य) बालक आदि दान देने से अनाधिकारी से आहारादि लेना।

4. सम्बन्ध बताओ – 10

(अ) ऋषभदास - मनोरमा

(ब) मरुदेवा - ब्राह्मी

(स) दधिवाहन - अभया

(द) कपिल - इन्द्रदत्त
(य) भरत - सुन्दरी

5. संक्षेप में उत्तर दो – 9

(अ) नमिराज को राजर्षि क्यो कहा जाता है ?
(ब) इच्छा का पूर्ण होना असभव है, क्यो ?
(स) ''मिथिला नगरी के जलने पर मेरा कुछ भी नहीं जलता'' – नमि ने ऐसा क्यो कहा ?

6. गाथा पूरी करो – 12

(अ) जो सहस्सं . परमो जओ ॥
(ब) . पवियक्खणा ।
. रायरिसी ॥
(स) अहे वयइ . . ।
. .. . . भय ॥

7. काव्य पूर्ति करो – 15

(अ) मैत्री सकल . .. हित बहे ॥
(ब) अपराध मेरा . . मेरा हरे।
(स) इन्द्रिय रहित . आकर रहे।
(द) सम्यक् बोध दिया।
सघ ना होता ॥
(य) सघ हेतु ।
प्यारा है ॥
.

22. निम्नांकित प्रश्नों के उत्तर लिखो – 20

(अ) आहार-पानी परठने के पॉच कारण लिखो।
(ब) समिति व गुप्ति को परिभाषित कीजिए।
(स) सज्ञा किसे कहते है ? इनके प्रकार भी लिखो।
(द) आलोचना का कोई एक सुभाषित लिखो।

श्री अखिल भारत वर्षीय साधुमार्गी जैन संघ

मुख्य उद्देश्य

- समता समाज की रचना।
- व्यसन मुक्त राष्ट्र का निर्माण।
- जीवदया, स्वधर्मी सेवा, मानव सेवा आदि विभिन्न प्रवृत्तियों का संचालन।
- जैन संस्कृति, धर्म, दर्शन और आचार के व्यापक सिद्धान्तों का लोक भाषा में प्रचार।
- जन कल्याणकारी सहज-सुबोध साहित्य का निर्माण।
- सम्यक् ज्ञान, दर्शन, चारित्र की रक्षा एवं वृद्धि हेतु शिक्षण-दीक्षा की समुचित व्यवस्था।
- समाज में धार्मिक चेतना के अभ्युत्थान हेतु आध्यात्मिक, नैतिक, चारित्रिक, शैक्षणिक विकास के कार्य करना।
- धार्मिक परीक्षा शिविर व शिक्षा के माध्यम से स्वाध्यायी तैयार करना।
- जैन धर्म के विभिन्न पहलुओं को जानने हेतु प्रयासरत शोधार्थियों एवं विद्वानों को यथोचित सहयोग प्रदान करना।
- धार्मिक, आध्यात्मिक व नैतिक शिक्षा हेतु पाठ्यक्रम निर्धारित कर सम्यक् ज्ञान का प्रचार करना।